

मेरा पूर्वांतर

पूर्वोत्तर के
अप्रसिद्ध स्थानों की
मोटरसाइकिल यात्रा



नीरज मुसाफिर



मेरा पूर्वोत्तर

यात्रा-वृत्तांत

ISBN:- 978-93-5311-029-1

© नीरज मुसाफिर

प्रथम संस्करण:- मई 2018

प्रकाशक:- नीरज मुसाफिर
कृपया डाक पते के लिए संपर्क करें:
ईमेल: musafirneeraj@gmail.com
ब्लॉग: <http://neerajmusafir.com>
फेसबुक: [facebook.com/NeerajMusafir](https://www.facebook.com/NeerajMusafir)

सभी फोटो:- नीरज मुसाफिर
आवरण पृष्ठ:- सुरेंद्र सिंह रावत

मुद्रक:- आर. के. ऑफसेट, नवीन शाहदरा, दिल्ली

मूल्य:- 240 रुपये

इस पुस्तक में दिए किसी भी लेख या उसके अंश और चित्र को लेखक की लिखित अनुमति के बिना किसी भी अन्य माध्यम से पुनर्प्रकाशित या फोटोकॉपी नहीं किया जा सकता।

प्रस्तावना

जुलाई 2012 में कोकराझार में भयंकर दंगे हुए थे। स्थानीय बोडो लोगों और अवैध रूप से रह रहे व बड़े पैमाने पर कब्जा कर रहे बांग्लादेशियों के बीच ये दंगे थे, जिनमें बहुत सारे लोग मारे गए थे और लाखों लोग बेघर भी हुए थे। सेना बुलानी पड़ गई थी।

इसके कुछ ही दिनों बाद यानी अगस्त में मैं जिंदगी में पहली बार असम जा रहा था - ट्रेन से भारत परिक्रमा करने। उससे पहले असम के बारे में केवल सुना-भर था। हिंदीभाषियों को भी चुन-चुनकर मारा जा रहा था। ऐसे में यात्रा के समय जब असम के प्रवेश-द्वार कोकराझार में ही ऐसा हो जाए, तो घबराहट होना लाजिमी था ही।

और जब ट्रेन ने पश्चिम बंगाल से असम के कोकराझार में प्रवेश किया, तो जले हुए गाँव और सेना के जवान ही दिख रहे थे। पहली बार असम आने वाले पर

क्या बीत रही होगी! मन कर रहा था कि जब तक पूर्वोत्तर में रहूँ, कपड़े में मुँह छुपाए रखूँ।

लेकिन अगले ही दिन असम के सुदूर पूर्व में लीडो गया और यह देखकर हैरान रह गया कि हिंदी बोली जा रही है। हर कोई हिंदी बोलता दिखा। मैं बेवजह ही डर रहा था कि टिकट वाले से हिंदी में बोलूँगा तो वह मुझे गोली मार देगा। चाय वाले से हिंदी में चाय माँगूँगा तो वह मुझे डाँट देगा। लेकिन ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। चाय-पकौड़ियाँ भी हिंदी में लीं और टिकट भी हिंदी में ही; आसपास खड़े किसी भी इंसान पर कोई फर्क ही नहीं पड़ा।

फिर भी मैं डरा हुआ था। लीडो से आठ-दस किलोमीटर आगे लेखापानी जाना था, ताकि एक जमाने में भारत के सबसे पूर्वी रेलवे स्टेशन को देख सकूँ, लेकिन नहीं जा पाया। तमाम तरह की अवधारणाएँ मन में बैठी हुई थीं।

डिब्रुगढ़ पहुँचा तो वहाँ मैं खुद को फँसा हुआ महसूस कर रहा था। लीडो से मेरी ट्रेन पुराने डिब्रुगढ़ गई थी, जबकि अगली ट्रेन आधी रात को नए डिब्रुगढ़ से मिलने वाली थी। अगर दिन होता तो छह किलोमीटर की यह दूरी मैं पैदल ही तय करता, लेकिन अब रात में ऐसा नहीं कर सकता था। मजबूरन ऑटोवाले के पास जाना पड़ा। यहाँ तो मुझे भरोसा था कि ऑटोवाला मेरी हिंदी सुनते ही अपने दोस्तों को बुला लेगा और सब लोग मेरी कुटाई कर देंगे। लेकिन उन्होंने जो व्यवहार किया, तभी भरोसा हो गया कि असम से डरने की जरूरत नहीं है।

असम वो गैर-हिंदीभाषी राज्य है, जहाँ पहली कक्षा से ही बच्चों को स्कूल में हिंदी अनिवार्यतः पढ़ाई जाती है।

फिर एक बार मिजोरम भी जाना हुआ, जो भले ही असम से लगा हुआ हो, लेकिन हिंदी से बहुत दूर है। वहाँ हमारी शकल से, बोलचाल से किसी को कोई फर्क ही नहीं पड़ता था। हमने सड़क किनारे वीराने में टेंट लगाकर रातें भी बिताईं और जंगलों में शिकार करते हथियारबंद शिकारियों के साथ बैठकर गप्पें भी लड़ाईं, लेकिन कोई असुविधा नहीं हुई।

तो हम पूर्वोत्तर से इतना क्यों डरते हैं?

अपनी अवधारणाओं के कारण।

हम तक छँटी हुई खबरें मिर्च-मसाला लगकर पहुँचती हैं और हम उन पर भरोसा कर लेते हैं और भारत के इतने खूबसूरत हिस्से से डरने लगते हैं। हमने अपने मन में अवधारणा बना ली है कि पूर्वोत्तर सुरक्षित नहीं है।

जबकि ऐसा नहीं है। यह भारत के ज्यादातर हिस्सों से ज्यादा सुरक्षित है।

इस यात्रा में हम पूर्वोत्तर के उन स्थानों पर होकर आए, जहाँ अमूमन कोई नहीं जाता। इस किताब को एक 'ट्रैवल गाइड' की तरह नहीं लिखा गया है। इसमें केवल हमारे कुछ अनुभव हैं और वे बातें हैं, जो हमने देखीं और महसूस कीं। पूरी यात्रा के दौरान हमारे मन में किसी भी तरह की असुरक्षा की भावना नहीं थी; हम सकारात्मक ऊर्जा से भरे थे और स्थानीय लोगों का व उनके रिवाजों का, खान-पान का सम्मान भी करते थे। यही कारण रहा कि हमें भी अच्छे लोग ही मिले।

किताब आपको निश्चित ही पसंद आएगी, लेकिन स्वयं प्रकाशित करने का मेरा यह पहला प्रयास है, इसलिए कुछ त्रुटियाँ भी अवश्य मिलेंगी। आप इन

त्रुटियों की ओर ध्यानाकर्षित करेंगे और अपने-अपने सुझाव भी देंगे, इसलिए इस किताब को मैं आपको समर्पित करता हूँ।

नीरज मुसाफिर

यात्रा-क्रम

पहली यात्रा (पूर्वी असम और पूर्वी अरुणाचल)

1. यात्रारंभ	11	
2. असम के आर-पार	21	
3. नामदफा नेशनल पार्क		44
4. पूर्वी अरुणाचल में		63
5. असम के आर-पार फिर से	85	

दूसरी यात्रा (मेघालय और उत्तर बंगाल)

6. मेघालय में प्रवेश		105
7. नरतियंग	114	
8. डौकी में भारत और बांग्लादेश		122
9. एक अनजाने गाँव में		133
10. चेरापूंजी	139	
11. मेघालय से उत्तर बंगाल		156
12. तीन बीघा कोरीडोर		171
13. लावा और नेवरा वैली नेशनल पार्क		182
14. दार्जिलिंग हिमालयन रेलवे		203
15. सिलीगुड़ी से दिल्ली मोटरसाइकिल यात्रा		211

पहली यात्रा

पूर्वी असम और पूर्वी अरुणाचल

1. यात्रारंभ

मोटरसाइकिल पैक हो चुकी थी और इसके साथ ही इसकी टंकी पर चिपकने वाला मैग्नेटिक बैग भी और हवा भरने वाला पंप भी। इसका सारा तेल हम पहले ही निकाल चुके थे। आड़ी-तिरछी करके एक-एक बूंद निचोड़ चुके थे, लेकिन शास्त्री पार्क से नई दिल्ली तक की सात किलोमीटर की दूरी इसने स्वयं तय की। कैसे तय की, हमें नहीं पता। इसमें इतना तेल कहाँ से आया, हमें नहीं पता।

“बाइक भेजनी है क्या? लाओ, हम पैक कर देंगे।”

“कितने पैसे लगे?”

“डेढ़ सौ रुपये।”

और बाइक पैक होकर नई दिल्ली स्टेशन के पार्सल कार्यालय के एक कोने में खड़ी हो गई।

एक घनिष्ठ मित्र के माध्यम से यहाँ एक अधिकारी से जान-पहचान हो गई थी। वैसे तो हमें नियमों की पूरी जानकारी थी, लेकिन भीड़-भाड़ वाली रेलवे में हमेशा लिखित नियमों से काम नहीं चला करता। और जब पता चला कि ‘फलाना सिंह’ जी ही पार्सल अधिकारी हैं, तो राहत की साँस ली। अब सब काम वे ही करेंगे। हम सिर्फ देखेंगे।

“हमें बाइक डिब्रुगढ़ भेजनी है। नई दिल्ली से डिब्रुगढ़ की केवल दो ही ट्रेनें हैं और दोनों ही राजधानी हैं। बाकी दो ट्रेनें पुरानी दिल्ली से हैं, लेकिन हमें अपनी बाइक राजधानी से ही भेजनी है।”

“लेकिन राजधानी में तो किराया ज्यादा लगेगा।”

“पच्चीस परसेंट ज्यादा लगेगा। लेकिन सही पहुँच जाएगी और समय से भी पहुँच जाएगी।”

“टिकट?”

“हम फ्लाइट से जाएँगे। ट्रेन का टिकट नहीं है। बाइक पार्सल से भेजनी है।”

“क्या? टिकट नहीं है? लेकिन... देखो नीरज भाई, दिल्ली एन.सी.आर. में रेलवे, पार्सल से सामान नहीं भेजता। इस काम को लीज पर दे रखा है। हाँ, आपके पास टिकट होता, तो हम लगेज में बुक कर देते।”

“पार्सल को ठेकेदार भेजता है? क्या रेट हैं उसके?”

“अभी पता करता हूँ।... ओ, ओये राजू, कोल्ड ड्रिंक लेकर आ, ये ले पैसे।”

फलाना सिंह जी ने कहीं फोन किया – “हाँ भाई, क्या हाल है? बीवी-बच्चे कैसे हैं?”

“...”

“अच्छा सुनो, राजधानी में तुम ही करते हो ना, पार्सल की बुकिंग?”

“...”

“एक बाइक भेजनी है। मेरी अपनी ही बाइक है।”

“..”

“नहीं, आज की ट्रेन तो छूटने वाली है। कल लोड़ कर देना।”

“..”

“पैसे बताओ, पैसे।”

“...”

“अबे हमसे भी दस हजार लोगे? कम करो कुछ।”

‘दस हजार’ सुनते ही मैंने दीप्ति की ओर देखा और दीप्ति ने मेरी ओर। आँखों ही आँखों में तय कर लिया कि इतनी महंगी बुकिंग नहीं करानी।

“देखो नीरज भाई, ठेकेदार दस हजार से कम नहीं कर रहा। कह रहा है कि राजधानी में डिब्रुगढ़ जाने के लिए बहुत सारा सामान पड़ा है और वह किसी भी हालत में दस हजार से कम नहीं करेगा।”

“अब?”

“ना, तुम चिंता मत करो। निकलेगा कुछ न कुछ रास्ता। अगर तुम्हारे पास राजधानी का टिकट होता तो रेलवे के किराये पर लगेज में बुक हो जाती।”

मैंने मोबाइल निकाला। राजधानी का टिकट देखने का तो सवाल ही नहीं। तीन हजार से ऊपर ही होगा। लेकिन यहाँ से संपर्क क्रांति गुवाहाटी तक जाती है। स्लीपर में 200 से ज्यादा बेटिंग थी और किराया था 755 रुपये। उधर पार्सल कार्यालय में मेरे सामने एक चार्ट लगा था, जिसमें लगेज भेजने के रेलवे के रेट लिखे थे। गुवाहाटी के रेट थे, 2700 रुपये। टिकट और लगेज दोनों मिलाकर लगभग 3500 रुपये हुए।

“सर, तो हम एक काम करते हैं। संपर्क क्रांति में गुवाहाटी तक लगेज में बुक कर लेते हैं। अभी काउंटर पर जाकर मैं टिकट ले आता हूँ। आप फटाफट बुक कर देना। 3500 रुपये ही लगेगे।”

“लेकिन आप तो डिब्रुगढ़ भेजना चाहते हो?”

“कोई बहुत ज्यादा फर्क नहीं पड़ेगा। दस हजार रुपये में डिब्रुगढ़ भेजना बहुत महंगा है।”

“तो एक मिनट रुको। अब मैं संपर्क क्रांति के पार्सल ठेकेदार से बात करके देखता हूँ।”

उन्होंने फोन मिला दिया – “हाँ भई, क्या हाल है? अच्छा सुन, अपनी एक बाइक गुवाहाटी जाएगी। कितने पैसे लगेगे?”

“...”

“अरे नहीं, तू पैसे बता।”

“...”

“तो ठीक है, भेज अपने एक आदमी को इधर।”

और 2500 रुपये में बाइक बुक हो गई।

“लेकिन सर, मैंने सुना है कि एक ट्रेन में दो ही मोटरसाइकिलें जा सकती हैं। अगर पहले ही दो मोटरसाइकिलें इसमें चढ़ गईं तो...?”

“अरे तुम चिंता मत करो। अगर दो मोटरसाइकिलें पहले ही चढ़ गईं, तो इनमें पहली मोटरसाइकिल तुम्हारी होगी।”

अब हमारे हाथ में केवल हेलमेट थे, बाइक की चाबी थी और हम मेट्रो में थे। शास्त्री पार्क आने में अभी देर है, तो थोड़ा-सा ज्ञान मैं भी झाड़ूँ।

ट्रेनों में बाइक बुक करना कोई बड़े झंझट का काम नहीं है। दो-चार लाइनों के नियम हैं, उन्हें फॉलो कीजिए और आपकी बाइक बुक हो जाएगी। लेकिन वह कब पहुँचेगी, इसकी कोई गारंटी नहीं। एक ट्रेन में दो ही बाइक जा सकती हैं, लेकिन अगर आपसे पहले उस ट्रेन के लिये कई बाइक बुक हैं, तो आपकी बाइक उस ट्रेन में नहीं जाने वाली। किसी भी हालत में नहीं।

और अब सबसे ज्यादा ध्यान में रखने वाली बात। बाइक को हमेशा धुर से धुर तक ही बुक करें। अगर आपको बाइक गुवाहाटी भेजनी है, तो उसी ट्रेन में बुक करें जो केवल गुवाहाटी तक ही जा रही हो। वह ट्रेन अगर आगे कहीं जा रही है और गुवाहाटी में पाँच मिनट का ही ठहराव है, तो इतने समय में लगेज वाले डिब्बे का दरवाजा भी नहीं खुलता। आपकी बाइक भी आगे ही चली जाएगी और वहाँ से कब वापस आएगी; किस ट्रेन से वापस आएगी; कोई नहीं जानता। इसी तरह हमेशा उसी स्टेशन पर बुक कराएँ, जहाँ से ट्रेन शुरू होती है।

मेरे एक मित्र ने अपनी साइकिल मुंबई से अंबाला छावनी के लिए बुक कराई थी पश्चिम एक्सप्रेस में। मित्र तो अंबाला छावनी उतर गए, लेकिन साइकिल ट्रेन के साथ ही चली गई। वो तो उनके कुछ अच्छे संबंध थे, उन्होंने फोन-वोन किए, तो साइकिल को लुधियाना में उतारकर अगले दिन वापस अंबाला भेजा गया; अन्यथा वह अमृतसर चली जाती और वहाँ से कब अंबाला आती, पता नहीं।

अभी हाल ही में एक अनोखा किस्सा पढ़ा। रेलवे के ही एक कर्मचारी ने चेन्नई से गोरखपुर के लिए अपनी बाइक पार्सल में बुक की। वे स्वयं गोरखपुर आ गए और बाइक के पहुँचने की प्रतीक्षा करने लगे। महीना बीत गया। कोई आम आदमी होता तो बाइक मिलने में बड़ी मुश्किल आती, लेकिन वे स्वयं रेलवे वाले थे। पता चला कि उनकी बाइक चेन्नई से पहुँची दिल्ली, फिर मुंबई, फिर उड़ीसा और अब फिलहाल उड़ीसा से चेन्नई जाने वाली ट्रेन में थी।

ट्रेनों में केवल यात्रियों की ही भीड़ नहीं होती, बल्कि लगेज और पार्सल की भी बहुत ज्यादा भीड़ होती है। लेकिन सामान बेचारे अपने-आप न तो उतर सकते हैं, न ही चढ़ सकते हैं। इन्हें चढ़ाने और उतारने में आपको भी बहुत भागदौड़ करनी पड़ेगी। संयोग से हमारी वहीं पार्सल कार्यालय में जान-पहचान हो गई थी, अन्यथा आज बाइक बुक होने वाली नहीं थी।

पूर्वोत्तर जाना उतना सरल नहीं है जनाब। कश्मीरी गेट से रेड लाइन की मेट्रो

में बैठते हुए यही सोच रहा था कि अभी केवल बुकिंग-भर हुई है। पता नहीं पाँच तारीख को वह ट्रेन में लोड होगी भी या नहीं। या पार्सल ऑफिस में भरे पड़े सामानों के बीच में कहीं गुम तो नहीं हो जाएगी। या अनपढ़ कुली संपर्क क्रांति में चढ़ाने की बजाय बगल वाले प्लेटफार्म पर खड़ी दूसरी ट्रेन में तो नहीं चढ़ा देंगे। या फलाना सिंह से भी बड़े अफसर की सिफारिश वाली बाइक आ गई, तो वही पहले चढ़ेगी और हमारी बाइक यूँ ही खड़ी रह जाएगी।

...

7 नवंबर 2017 की सुबह सात बजे दिल्ली धुंध में डूबी हुई थी। गले में खराश और आँखों में जलन – खतरनाक धुंध थी। अखबारों में लिखा था कि यह ‘एयर-लॉक’ है। तीन दिनों तक ऐसा ही रहेगा। हवा चलेगी तो प्रदूषित हवा बाहर निकलेगी। गैस चैंबर बनी हुई थी दिल्ली। सोच रहा हूँ, हम जीवित कैसे रह लेते हैं ऐसे में! शरीर ने भी खुद को समझा लिया है कि बिना साफ हवा के कैसे जिया जाए।

और फ्लाइट में सबकुछ ठीक चल रहा था। सही समय पर बोर्डिंग भी हो गई, विमान में बैठ भी गए और परिचारिकाओं ने ‘सेफ्टी डेमो’ भी दिखा दिया, लेकिन उसके बाद प्लेन हिला तक नहीं। आधा घंटा ऊपर हो गया। पता चला एक रन-वे बंद है और वी.आई.पी. लोगों का आना-जाना भी है, जिसके कारण हमारी फ्लाइट लेट हो रही है। मेरे पीछे वाली सीट पर बैठे यात्री ने किसी को फोन करके बताया – “ढाई बजे तक पहुँचूंगा।”

हमारे बगल में एक अमेरिकी महिला बैठी थीं। हिंदी जानती थीं, इसलिये हमारा संवाद हो गया। बातचीत की शुरुआत उन्होंने ही हिंदी में की। सात साल से भारत में रह रही हैं। फिलहाल शिलोंग जा रही हैं।

डेढ़ घंटा हो गया। यात्रियों ने हंगामा शुरू कर दिया। पायलट ने उद्घोषणा की कि उन्हें भी नहीं पता कि कितना समय लगेगा। ऐसे-ऐसे मामला है, अब जिसको उतरना है, वह उतर सकता है। प्लेन के दरवाजे खोल दिए गए और सीढियाँ लगा दी गईं। पाँच यात्री उतरकर चले गए। पीछे बैठे यात्री ने फिर से फोन किया – “पता नहीं कितना समय लगेगा।”

ये पूर्वोत्तर की यात्राएँ अजीबो-गरीब क्यों होती हैं? वहाँ की यात्राएँ बाकी देश की तरह सुगम क्यों नहीं होतीं?

लेकिन प्लेन के स्टाफ भले लोग थे। फ्री कॉफी और मैगी प्रत्येक यात्री को दिए। मैं मैगी नहीं खाता, लेकिन फ्री वाली खा लेता हूँ।

दो बजे प्लेन सरकने लगा और लाइन में लग गया। इससे आगे खड़े प्लेन उड़े, तब इसका नंबर आया। और जब यह रन-वे पर दौड़ रहा था, तो सभी यात्रियों के सामने टेबल पर कॉफी और मैगी रखे थे और सभी यात्री इन्हें अपने ऊपर गिरने से बचाने की सफल-असफल कोशिश कर रहे थे। दूसरी तरफ भी कई प्लेन अपनी बारी के इंतजार में खड़े थे। विदेशी प्लेन भी।

मोबाइल में जी.पी.एस. चल गया। धुंध के कारण नीचे तो कुछ नहीं दिख रहा था, लेकिन जब बल्लभगढ़ से ऊपर से उड़ रहे थे, तो उत्तर में हिमालय की चोटियाँ दिखने लगीं। पहले चौखंबा, नंदादेवी और पंचचूली। और आगे बढ़े तो नेपाल हिमालय के पहाड़ भी दिखने लगे। आपी, धौलागिरी, अन्नपूर्णा और एवरेस्ट भी। मेरी 'हमसफर एवरेस्ट' किताब मेरे हाथ में थी और सामने थी एवरेस्ट। एवरेस्ट ट्रेक से तो एवरेस्ट नहीं दिखी और आज मैं पहली बार इसे देख रहा था। फिर कंचनजंघा भी दिखी।

गंगा व घाघरा जहाँ मिलती हैं, ठीक संगम के ऊपर से प्लेन यू.पी. के आसमान से बिहार के आसमान में प्रविष्ट हुआ। पटना शहर के ऊपर से उड़ता हुआ सिलीगुड़ी की तरफ बढ़ने लगा। 'चिकन नेक' का जो इलाका है, ठीक उसके ऊपर से उड़ता रहा। यह 10-15 किलोमीटर चौड़ी पट्टी है, जिसके एक तरफ नेपाल है और दूसरी तरफ बांग्लादेश। लेकिन प्लेन केवल भारत के ही आकाश में रहा। आकाश भी देशों में बँट गया।

आगे आलिपुरद्वार से ही यह नीचे उतरने लगा और उतरता-उतरता गुवाहाटी में लैंड कर गया। सी.आर.पी.एफ. में तैनात ससुर तेजपाल जी प्रतीक्षा करते मिले। सीधे पहुँचे अमेरीगोग, खानापारा के पास। गुवाहाटी से 20-25 किलोमीटर दूर। यहाँ सड़क के एक तरफ असम है तो दूसरी तरफ मेघालय। मैंने दीप्ति से पूछा – “मेघालय देख लिया ना?”

“हाँ, देख लिया।”

और बाइक अभी तक गुवाहाटी नहीं पहुँची थी। संपर्क क्रांति इतनी लेट चल रही थी कि वह कल तक ही आएगी। हमें भी नहीं पता कि बाइक इस ट्रेन में है भी या नहीं। फलाना सिंह जी ने बताया – “हाँ, मैंने बोल दिया था ठेकेदार को।” ठेकेदार ने कहा – “हाँ, मैंने बोल दिया था वर्करो को।” लेकिन मन के एक कोने में एक धब्बा भी बन गया था – “कहीं शायद बाइक लोड़ ही न की गई हो।”

“तब हम क्या करेंगे?”

“फोन करके मना कर देंगे कि इसे अगली संपर्क क्रांति में मत चढ़ाना। ट्रेन से और बस से असम, अरुणाचल घूमेंगे।”

...

अगले दिन 8 नवंबर को ट्रेन दोपहर 11 बजे गुवाहाटी आई – 26 घंटे लेटा। सभी यात्रियों के चेहरे दर्शनीय थे। लेकिन हम दर्शनीय चेहरों को देखने यहाँ स्टेशन पर नहीं आए थे। हम आए थे अपनी बाइक लेने। ठेकेदार के आदमी आए। पार्सल वाला डिब्बा खोला और हमारी आँखें फटी रह गईं। दीप्ति ने तुरंत कहा – “हे भगवान! यह क्या कर रखा है इन्होंने! बाइक को अब कभी ट्रेन से नहीं भेजना।”

डिब्बे में बाइक एकदम ऊर्ध्वाधर खड़ी थी। पिछला पहिया फर्श पर था, तो अगला पहिया छत को छू रहा था। मैंने राहत की साँस ली – “चलो, पहुँची तो

सही।”

बाइक हमारे हाथ में आने में दो घंटे लग गए। पहले उन्होंने डिब्बे का सारा सामान उतारा। डिब्बे के नन्हें-से हिस्से में कितना सामान आ सकता है, आज पहली बार जाना। प्लेटफार्म पर भी इसे रखने की जगह नहीं बची, तो ट्रेन बीस-तीस मीटर आगे सरकवाई गई। आठ-दस लोग सामान पटकने में ही लगे थे। उनके कुछ भी हाथ आता, डिब्बे के भीतर से बाहर फेंक देते। कई सामानों पर लिखा था – “हैंडल विद केयर।”

हाँ, हम सामने खड़े थे तो शायद इस वजह से बाइक इज्जत से उतारी गई, अन्यथा क्या पता उसे भी चार लोग उठाकर बाहर ही फेंक देते। अब बाइक में एक भी खरोंच तक नहीं लगी।

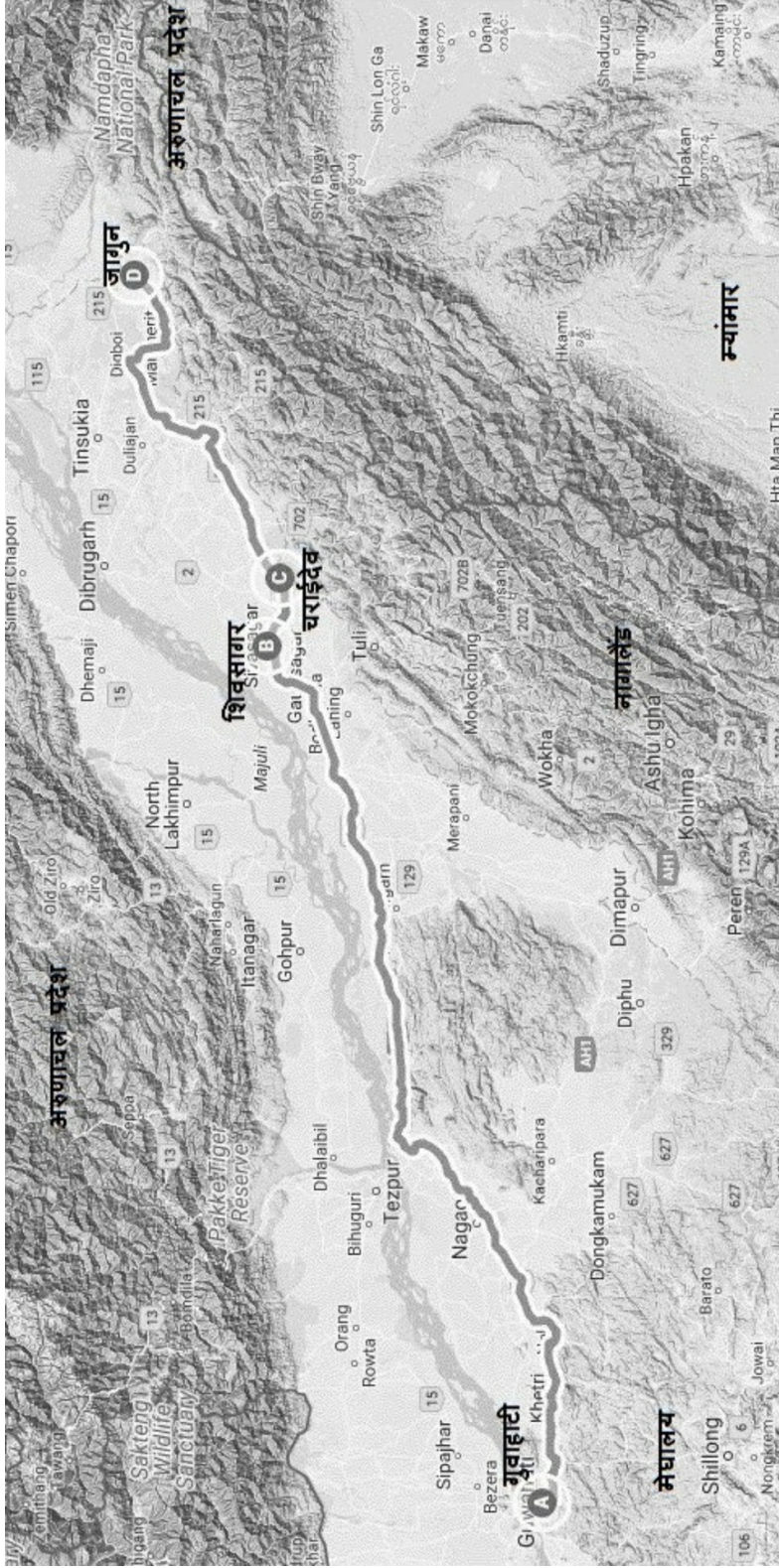
आधा किलोमीटर दूर ही पेट्रोल पंप था। पेट्रोल डलवाया और बाइक खुशी से स्टार्ट हो गई। हेलमेट हमारे पास था नहीं। लेकिन जब देखा कि गुवाहाटी शहर में हर बाइक वाला हेलमेट लगाए हुए था, तो हमें भी हेलमेट खरीदते देर नहीं लगी। सरदारजी की दुकान थी। उन्होंने अपनी दुकान का सबसे बड़े साइज का हेलमेट दिया, लेकिन वह भी मुझे टाइट आया। दो-चार घंटे की बात होती, तो मैं टाइट हेलमेट से काम चला लेता, लेकिन अब कई दिनों तक इससे काम नहीं चल सकता। सोचा कि अगर सिर के बाल छोटे करवा लूँ, तो शायद बात बन जाए। अमेरीगोग में ही सड़क के उस तरफ अर्थात् मेघालय में नाई की दुकान मिल गई। बिहारी नाई था – हाजीपुर का। इसके पिताजी भी नाई ही थे, मतलब यहाँ बाल ही काटते थे। अब यह धंधा इसने संभाल लिया। सड़क के उस पार असम में अपना घर है। पूरा परिवार अब यहीं रहता है। खुद भी और बच्चे भी भोजपुरी के साथ-साथ असमिया बोलते हैं। साल में एकाध बार ही बिहार जाते हैं।

“कोई बाहरी आदमी मेघालय में घर-जमीन-दुकान नहीं खरीद सकता। यह दुकान भले ही हमारे पास बीस-पच्चीस सालों से है, लेकिन किराये की है।”

“तो यहाँ वो समस्या नहीं है क्या – वसूली वाली?”

“असम में तो बिल्कुल नहीं है और मेघालय के इंटीरियर में है, यहाँ नहीं है।”

लेकिन बाल कटने के बाद भी टाइट हेलमेट की समस्या हल नहीं हुई, तो ससुर साहब की सहायता से एक बंगाली का पुराना बड़ा हेलमेट मिल गया। बड़ी देर तक मछलियों की गंध आती रही।



अरुणाचल प्रदेश

जंगल

अरुणाचल प्रदेश

शिवसागर

चराईदेव

गुवाहाटी

मेघालय

शिल्लोन्ग

नगाँव

दिपहु

डिमपुर्

कोहिमा

अशुल्गिहा

वोक्हा

मेरपानि

मोकोकचुन्ग

तुलि

गौसायली

मजुली

नोर्थ लखिम्पुर्

दिभ्रुगार्थ

तिन्सुकिया

अरुणाचल प्रदेश

अरुणाचल प्रदेश

अरुणाचल प्रदेश

अरुणाचल प्रदेश

अरुणाचल प्रदेश

अरुणाचल प्रदेश

अरुणाचल प्रदेश

अरुणाचल प्रदेश

अरुणाचल प्रदेश

अरुणाचल प्रदेश

अरुणाचल प्रदेश

अरुणाचल प्रदेश

अरुणाचल प्रदेश

अरुणाचल प्रदेश

अरुणाचल प्रदेश

अरुणाचल प्रदेश

अरुणाचल प्रदेश

अरुणाचल प्रदेश

अरुणाचल प्रदेश

अरुणाचल प्रदेश

अरुणाचल प्रदेश

अरुणाचल प्रदेश

अरुणाचल प्रदेश

9 नवंबर 2017

यहाँ दिन जल्दी निकलता है और जल्दी छिपता भी है। दिल्ली से एक घंटा पहले ही दिन निकल आता है। हमें वही दिल्ली वाली आदत थी उठने की, लेकिन आज जल्दी उठ गए। आज हमें कम से कम तिनसुकिया तो पहुँचना ही था, जो यहाँ से 470 किलोमीटर दूर है। मुझे जानकारी थी कि 100 किलोमीटर दूर नगाँव तक चार-लेन का हाईवे है और उसके बाद दो-लेन का। दो-लेन वाली सड़क पर थोड़ी मुश्किल तो होती है, लेकिन फिर भी उम्मीद थी कि दिन ढलने तक तिनसुकिया तो पहुँच ही जाएँगे।

आज ही तिनसुकिया पहुँचने का एक मुख्य कारण था कि कल अरुणाचल में पांगशू पास आम लोगों के लिये खुला रहेगा। सुनने में आया था कि हर महीने की 10, 20 और 30 तारीख को भारत और म्यांमार के बीच स्थित पांगशू पास आम लोगों के लिये खुलता है और दोनों देशों में एक दिन के लिए दोनों देशों के नागरिक आ-जा सकते हैं। हम कल पांगशू पास भी अवश्य जाना चाहते थे।

तो साढ़े छह बजे अमेरीगोग से निकल पड़े। अच्छी ठंड थी और हाथों में दस्ताने पहनने पड़ रहे थे। मेघालय में पेट्रोल सस्ता है, इसलिये सड़क के उस पार से पेट्रोल भरवा लिया। खानापारा से जोराबाट तक की सड़क असम और मेघालय की सीमा बनाती है और इस दूरी में बहुत सारे पेट्रोल पंप हैं। जब गुवाहाटी जैसे बड़े शहर के नजदीक ही पेट्रोल सस्ता मिलेगा, तो सभी यहीं से अपनी टंकी भरवाएँगे। पूर्वी असम और शिलोंग की तरफ जाने वाली प्रत्येक गाड़ी तो निश्चित ही यहीं से टंकी भरवाएगी।

जोराबाट से एक सड़क दाहिने मुड़कर शिलोंग और सिलचर चली जाती है। त्रिपुरा, मिजोरम और मणिपुर जाने वाला सारा ट्रैफिक यहीं से होकर जाता है। हम सीधे नगाँव की ओर चलते रहे और जोराबाट से निकलते ही एकदम खाली सड़क से सामना हुआ और कोहरे से भी। सर्दियों में कोहरा तो हमारे यहाँ भी पड़ता है, लेकिन यह कोहरा बड़ा अजीब-सा लगा। यह उतना घना तो नहीं था, लेकिन इसने थोड़ी ही देर में हमें पूरा भिगो दिया। इसका कारण है यहाँ बगल में 'समुद्र' का होना। ब्रह्मपुत्र नद किसी समुद्र से कम नहीं और इसकी वजह से पूरा वातावरण नम रहता है। रात में तापमान कम होते ही कोहरा बन जाता है और हल्का कोहरा भी आपको भिगो देता है। जहाँ आसपास पहाड़ियाँ हों, वहाँ यह कोहरा ज्यादा होता है। जोराबाट से कुछ आगे तक पहाड़ियाँ हैं, इसलिये इस इलाके में अच्छा कोहरा था।

लेकिन वो नजारा मुझे अभी भी याद है, जब हम इस कोहरे से बाहर निकलने ही वाले थे। कोहरे से बाहर निकले नहीं थे; हम भीगे हुए थे; सूरज एकदम सामने था और धूप बड़े ही जादुई तरीके से आधा किलोमीटर आगे सड़क पर पड़ रही थी। इससे ज्यादा मैं इस नजारे का वर्णन करने में असमर्थ हूँ।

सड़क किनारे एक बड़ा तालाब दिखा तो बाइक अपने आप ही रुक गई। इसमें बहुत सारे कमल खिले थे और नजारा वाकई स्वर्गीय था। बड़ी देर तक हम यहाँ रुके रहे और कैमरे को तरह-तरह से जूम करके और आड़ा-तिरछा करके फोटो लेते रहे।

बाइक यात्राओं में नींद आना सबसे बड़ी समस्या होती है। और इसका समाधान बड़ा आसान है। बाइक रोकिए, कैमरा निकालिए और फोटो लेने शुरू कर दीजिए। कुछ भी, कैसे भी, किसी के भी। और आप पाएँगे कि नींद गायब हो गई। वैसे हमें इस समय नींद नहीं आ रही थी, लेकिन जब इतने बड़े तालाब में कमल ही कमल खिले हों, तो फोटोग्राफी अपने आप हो ही जाती है। कुछ पक्षी भी बैठे थे, लेकिन वे कैमरे की रेंज से बाहर थे।

कई 'रॉयल एनफील्ड' हमसे आगे निकल गईं। मैंने कोई बहुत ध्यान नहीं दिया। लेकिन कुछ आगे चलकर जब एक और 'रॉयल एनफील्ड' आगे निकली तो ध्यान दिया कि इस पर टैंट, स्लीपिंग बैग और मैट्रेस भी बंधे थे। असम नंबर की बाइक थी। मेरी जिज्ञासा जगी। टैंट है तो जरूर हमारा भाई लंबी और दुर्गम यात्रा पर जा रहा है। पूछताछ करनी चाहिए।

एक ढाबे पर जब वह चाय पीने रुका तो हम भी वहीं रुक गए। बातचीत हुई। पता चला कि पासीघाट में 'एनफील्ड राइडर्स क्लब' का सालाना सम्मेलन हो रहा है - 10 से 12 नवंबर तक। वहीं जा रहे हैं सभी। देश से भी और विदेश से भी। वो तो चाय पीकर चला गया, लेकिन मुझे काम मिल गया। इंटरनेट का सहारा लिया और इसके बारे में काफी जानकारी मिल गई। यह 'नॉर्थ-ईस्ट राइडर्स क्लब' की तरफ से आयोजन था। केवल 'रॉयल एनफील्ड' वाले ही इसमें भाग ले सकते थे। इस बार यह नौवाँ आयोजन था। हर बार अलग-अलग राज्यों में अलग-अलग स्थानों पर होता है यह। इस बार अरुणाचल के पासीघाट में था।

अच्छा है। ऐसे आयोजन होते रहने चाहिए। कम से कम पूर्वोत्तर में तो जरूरी हैं। शेष भारत के लोगों को भी पता चलना चाहिए कि पूर्वोत्तर भी भारत का ही हिस्सा है। बल्कि ऐसा हिस्सा है, जहाँ से भारत शुरू होता है। लेकिन मुझे दुख इस बात का हुआ कि हम इसमें भाग नहीं ले सकते, क्योंकि हमारे पास 'रॉयल एनफील्ड' नहीं थी। 'डिस्कवर' थी और आयोजकों का अंग्रेजी में सख्त निर्देश था कि किसी भी अन्य बाइक को आयोजन-स्थल पर आने भी नहीं देंगे। उस समय तो मैंने सोच लिया था कि दिल्ली लौटकर एक 'डिस्कवर क्लब' बनाऊँगा और उसमें सख्ती से नियम बनाऊँगा - 'रॉयल एनफील्ड' की नो एंट्री।

लेकिन दिल्ली लौटकर किसे फुरसत होती है, इन सबके बारे में सोचने की!

यह चार-लेन की शानदार सड़क नगाँव तक बनी रही। बाइपास पार करके जब नगाँव शहर से आने वाली सड़क मिल गई, तो चार-लेन भी समाप्त होकर दो-लेन ही रह गई। गुवाहाटी व शेष भारत को पूर्वी असम, पूर्वी अरुणाचल और नागालैंड से जोड़ने वाली यही एकमात्र सड़क है, तो ट्रैफिक का आप अंदाजा लगा सकते हैं। फिर सड़क भी उतनी अच्छी नहीं थी। बड़ी मुश्किल आई।

कलियाबोर में तेजपुर की सड़क अलग हो गई। लेकिन अब दो-लेन की शानदार सड़क आ गई। सड़क शानदार हो तो भले ही कितना भी ट्रैफिक हो, रफ्तार बनी रहती है।

लेकिन हमने रफ्तार नहीं बढ़ाई, बल्कि और कम कर ली। हमारे दाहिनी तरफ कर्बी आंगलॉग की पहाड़ियाँ थीं और बायीं तरफ ब्रह्मपुत्र। ब्रह्मपुत्र वैसे तो दिख नहीं रहा था, लेकिन काजीरंगा का जंगल एहसास करा रहा था कि वह आसपास ही है। असम अर्थात् ब्रह्मपुत्र। ब्रह्मपुत्र के बीस-तीस किलोमीटर उत्तर और बीस-तीस किलोमीटर दक्षिण - यही मुख्य असम है। असम की जलवायु को पूरी तरह अपनी मुट्ठी में रखता है ब्रह्मपुत्र।

तो अभी हमने काजीरंगा का जिक्र किया। कलियाबोर से निकलते ही काजीरंगा नेशनल पार्क आरंभ हो जाता है। जगह-जगह व्यू-पॉइंट बने हैं, ताकि हम जैसे लोग रुककर जंगल को और जानवरों को देख सकें। और यहाँ जानवर भी निराश नहीं करते। तमाम तरह के हिरण तो दिख ही जाते हैं, आपका नसीब ठीक हो तो काजीरंगा की पहचान गैंडा भी दिख जाएगा।

बताते हैं कि पिछले साल यहाँ भयंकर बाढ़ आई थी, तो सैकड़ों गैंडे इस सड़क को पार करके कर्बी आंगलॉग की पहाड़ियों में चले गए थे, जहाँ उनका खूब शिकार किया गया। और यह भी पता चला कि यह काम बांग्लादेशियों ने किया था।

असम के लोगों में इन बांग्लादेशियों के प्रति नफरत भरी हुई है, लेकिन उन्हें राजनीतिक संरक्षण मिला हुआ है तो कोई कुछ नहीं कर सकता।

काजीरंगा नेशनल पार्क में प्रवेश करने के लिए चार गेट हैं। तीन गेट तो इसी सड़क पर हैं, चौथे का पता नहीं। इनमें कोहोरा गेट सबसे प्रसिद्ध है। हमारा आज काजीरंगा में घूमने का कोई इरादा नहीं था, लेकिन कोहोरा में कुछ देर रुककर भोजन करने का इरादा जरूर था और हमने अपना वो इरादा हकीकत में बदला भी।

मैंने वैसे तो कई नेशनल पार्क देखे हैं, लेकिन सफारी वगैरा कभी नहीं की। बस, मुझे हमेशा ऐसा लगता रहता है कि सफारी करना बहुत महंगा होता होगा। यहाँ भी हमें कई लोगों ने घेरा - सफारी कराने वालों ने। लेकिन अपने इसी पूर्वाग्रह के कारण मैंने इनसे कोई बात नहीं की।

लेकिन अब सोचता हूँ कि एक यात्री को कभी-कभार सफारी आदि पर भी खर्चा कर लेना चाहिए।

नुमालीगढ़ के पास कहीं सड़क जंगल से निकलकर फिर से आबादी में आ गई। और इसके साथ ही खराब सड़क भी शुरू हो गई। इस सड़क को चौड़ा बनाने का काम चल रहा है। इसलिये हर कदम पर 'डायवर्जन' हैं और सड़क टूटी भी है। जोरहाट तक पहुँचते-पहुँचते लगने लगा कि आज तिनसुकिया पहुँचना तो नामुमकिन है ही, डिब्रुगढ़ ही पहुँच जाएँ तो बड़ी बात होगी।

लेकिन साढ़े चार बजे तक हम शिवसागर भी नहीं पहुँच सके। कुछ ही देर में

दिन ढल जाएगा और डिब्रुगढ़ अभी भी 80 किलोमीटर दूर था। सोच लिया कि आज शिवसागर ही रुकते हैं। दिन के उजाले का जो भाग शेष था, उसका इस्तेमाल किया एक तालाब के किनारे रुककर लाल चोंच वाले अप्रवासी पक्षियों के फोटो लेने में।

आज मैंने लगभग 350 किलोमीटर बाइक चलाई और इसमें भी पिछले 100 किलोमीटर से खराब सड़क पर चल रहे थे। हमारी हालत खराब हुई पड़ी थी। 500 रुपये का कमरा लेकर बड़ी देर तक बिस्तर पर पड़े रहे और गोल-गोल घूमती छत को देखते रहे।

अभी भी पांगशू पास 200 किलोमीटर से ऊपर था और कल इस दूरी को तय करना आसान नहीं होगा। चार-लेन की सड़क तो अब मिलने वाली नहीं है, पता नहीं ऐसी खराब सड़क भी कितनी दूर तक हो। तो कल पांगशू जाना मुश्किल लगने लगा। तभी एक राहत की बात पता चली। वैसे तो यह निराश करने वाली बात ही थी, लेकिन इस समय हमारे लिये राहत की ही बात थी। जागुन से गीताली सड़किया का फोन आया और असमिया लहजे में हिंदी में बताया - “दादा, पांगशू पास कल बंद रहेगा। उधर उग्रवादियों ने कुछ कर दिया है तो आर्मी ने उधर जाने पर रोक लगा दी है।”

जागुन असम में वह स्थान है, जहाँ से पांगशू पास जाने के लिए आप असम से अरुणाचल में प्रवेश करते हैं। तो जागुन का कोई स्थानीय निवासी अगर ऐसी बात बताएगा, तो वह एकदम प्रामाणिक होगी। इसे किसी अन्य माध्यम से प्रामाणिक करने की आवश्यकता नहीं। गीताली का यह मैसेज हमारे लिये एकदम प्रामाणिक था। ‘पांगशू पास बंद है’ मतलब बंद है।

आपको शायद मैंने पहले भी बताया है, या नहीं बताया तो अब बता देता हूँ कि हमारी इस यात्रा की योजना तो कई महीनों से बन रही थी, लेकिन हम कुछ भी तैयारी नहीं कर सके। ऐसी बाइक यात्राओं में मैं हमेशा रास्तों का अध्ययन करके ही चलता हूँ, लेकिन इस बार ऐसा कुछ नहीं हो सका। बाइक यात्रा पहले डिब्रुगढ़ से आरंभ करनी थी, लेकिन बुकिंग की वजह से गुवाहाटी से आरंभ करनी पड़ी। अगर डिब्रुगढ़ से आरंभ करते तो एक-दो दिन इस इलाके में घूमने के लिये हमें और मिल जाते। फिर भी हमने इस यात्रा को नाम दिया था - पूर्वी अरुणाचल और पूर्वी असम की यात्रा।

अब जब पांगशू पास जाने की बाधयता समाप्त हो गई तो अब आराम से बाइक चलाएँगे। आखिरी दिन गुवाहाटी पहुँचने के लिये जरूर भागदौड़ करनी पड़ेगी, लेकिन कुल मिलाकर अब हम ज्यादा दूरियाँ तय नहीं करेंगे।

हम शिवसागर में थे। मुझे और दीप्ति किसी को भी असम के बारे में कुछ नहीं पता था। शिवसागर का क्या महत्व है, वो भी नहीं पता। चार साल पहले लामडिंग से सिलचर जाते समय ट्रेन में एक साधु मिले थे। वे शिवसागर से आ रहे थे। उन्होंने शिवसागर की धार्मिक महत्ता के बारे में जो बताया था, तब से मन में अंकित हो गया था कि शिवसागर असम का हरिद्वार है। आज हम ‘हरिद्वार’ में थे।

सोने से पहले थोड़ी देर इंटरनेट चलाया और हमें शिवसागर के बारे में काफी जानकारी हो गई। साथ ही यह भी पता चल गया कि कल हमें कहाँ-कहाँ जाना है और क्या-क्या देखना है।

...

हमें असम के बारे में कभी नहीं पढ़ाया गया। असम का इतिहास हमारे पाठ्यक्रम में कभी रहा ही नहीं। असम के नाम की उत्पत्ति बताई गई कि यहाँ की भूमि असमतल है, इसलिये राज्य का नाम अ-सम है। जबकि ऐसा नहीं है। यह असल में असोम है, जो अहोम से उत्पन्न हुआ है। सन् 1228 से सन् 1826 तक यानी लगभग 600 सालों तक यहाँ अहोम राजवंश का शासन रहा है। जब मुगल पूर्वोत्तर में पैर पसारने की जी-तोड़ कोशिश कर रहे थे, तो अहोम राजवंश ही था जिसने मुगलों को असम में घुसने भी नहीं दिया। लेकिन हमें मुगलों के बारे में सबकुछ बता दिया जाता है, अहोमों के बारे में कुछ नहीं बताया जाता।

यही कारण था कि हमें अपनी इस यात्रा के दौरान असम का कुछ भी नहीं पता था। कल जब पांगशू पास जाना मना हो गया तो शिवसागर के दर्शनीय स्थलों को देखने के लिए इंटरनेट का सहारा लिया। ज्यों-ज्यों 'सर्फिंग' करता चला गया, त्यों-त्यों आँखें खुलती चली गईं। अचरज हुआ कि हम तो अहोमों की राजधानी में थे। शिवसागर भी उनकी राजधानी रही है। अहोमों की पहली राजधानी चराइदेव थी जो शिवसागर से ज्यादा दूर नहीं। अभी भी चराइदेव में कुछ अवशेष बचे हैं। तय कर लिया कि हम जाएँगे चराइदेव भी। लेकिन पहले शिवसागर घूमेंगे।

तो 1699 में अहोम राजा रुद्र सिंह ने शिवसागर में कुछ निर्माण कार्य कराए। मुझे अभी भी ज्यादा कुछ नहीं पता है यहाँ के इतिहास के बारे में। तो इंटरनेट से टीपकर मैं फिलहाल इसका कच्चा-पक्का हिंदी अनुवाद नहीं करूँगा। कल जब हम शिवसागर आए थे तो इसके मुख्य तालाब 'शिवसागर' के किनारे-किनारे होकर आए थे। बगल में शिवडोल मंदिर भी देखा था, चलती बाइक से।

आज सबसे पहले वहीं पहुँचे। शिवसागर तालाब काफी बड़ा तालाब है। चारों ओर सड़क बनी है। खास बात यह है कि यह शहर से कुछ ऊपर बना है। हम जब पहुँचे तो पुलिस के बैरियर लगे थे। सुबह का समय पैदल चलने वालों और व्यायाम करने वालों का होता है। इसलिये इस समय इस परिक्रमा पथ पर कोई भी वाहन आ-जा नहीं सकता था। पुलिसवाले ने बड़े सलीके से हमें शिवडोल जाने का रास्ता समझा दिया।

मंदिर के सामने लगा असम टूरिज्म का बोर्ड बता रहा था कि यह मंदिर 1734 में बनवाया गया था। यह 104 फीट ऊँचा है, जो भारत का सबसे ऊँचा शिव मंदिर है। हम किसी दूसरे मंदिर को इसके बराबर में खड़ा नहीं करेंगे और न ही इस बहस में पड़ेंगे कि यह सबसे ऊँचा है या नहीं। फिलहाल जूते उतारकर मंदिर में चलते हैं। भीड़ तो छोड़िए, एक-दो आदमी भी मंदिर में नहीं दिख रहे। हाँ, पीछे तालाब की सड़क पर बहुत सारे नर-नारी 'जाँगिंग' करते दिख रहे हैं।

वास्तुकला की मेरी अज्ञानता जगजाहिर है। मुझे कुछ भी नहीं पता इसके बारे

में। और यहाँ सुदूर पूरब में यह अज्ञानता और भी भयानक बन जाती है। मैंने प्रतिज्ञा तो कर ली कि दिल्ली लौटकर वास्तुकला के बारे में कुछ जानकारी हासिल करूँगा, लेकिन दिल्ली लौटकर इतनी फुरसत होती किसे है?

बहुत सारे सफेद कबूतर निर्भीक घूम रहे थे। सुबह-सुबह का समय था। भक्त लोग और व्यायामार्थी कुछ दाना-पानी भी डालते जाते हैं। बहुत सारे कबूतर थे। और कुत्ते को बिल्कुल भी मेहनत नहीं करनी पड़ी, उसके नाशते का प्रबंध हो गया। किसी को कोई फर्क नहीं पड़ा। दो-तीन कबूतर ही उड़े; कुछ दो फीट इधर-उधर हो गए; बाकी दाना चुगते रहे। कुत्ता एक कबूतर को मुँह में दबोचकर मंदिर परिसर से बाहर चला गया।

हम भी अविचलित ही रहे। भगवान के दरबार में सबका हक है।

शिवडोल परिसर में ही दो मंदिर और भी हैं - विष्णुडोल और देवीडोल। 'डोल' माने मंदिर। शिव का मंदिर, विष्णु का मंदिर और देवी का मंदिर। मंदिरों में आधी ऊँचाई तक तो बड़े-बड़े पत्थर दिखते हैं, फिर ऊपर तक छोटी ईंटें हैं। ईंटों के ऊपर कई जगहों पर पलस्तर उतरा हुआ था। उसकी मरम्मत का काम चल रहा था। शिवडोल मंदिर के ऊपर त्रिशूल है। और आसमान में कृष्ण पक्ष की अष्टमी का चांद निकला हुआ था। हमने फोटो में त्रिशूल और चांद को अगल-बगल बैठा दिया।

ट्रेन की सीटी सुनाई पड़ी। समझते देर नहीं लगी कि यह सिमालुगुडी से डिब्रुगढ़ जाने वाली एकमात्र पैसेंजर है।

मंदिर के सामने ही कुछ दुकानें हैं। नाश्ता करके बढ़ चले, अपनी अगली मंजिल की ओर।

शहर से निकलते ही आमने-सामने दो इमारतें दिखीं। दाहिनी तरफ रंगघर है। कहते हैं, खेल तमाशे होते थे यहाँ। संरक्षित इमारत है। लेकिन अभी सात ही बजे थे। दो घंटे बाद यह खुलेगा। टिकट के पैसे बचे, खुशी हुई; लेकिन रंगघर देखना नहीं हुआ तो दुख भी हुआ।

सड़क के दूसरी ओर तलातल घर है। सन् 1702 में जब राजधानी शिवसागर स्थानांतरित की गई थी तो तलातल घर ही राजमहल हुआ करता था। सात मंजिल का यह महल था, जिनमें से तीन मंजिलें जमीन के नीचे थीं और बाकी जमीन के ऊपर। जमीन के नीचे का हिस्सा आम लोगों के लिये प्रतिबंधित है। फिलहाल ऊपर की इमारत ही देखी जा सकती है।

बंद दरवाजे के सामने बाइक रोक दी। लगा कि यह भी रंगघर की तरह बंद मिलेगा, लेकिन ऐसा नहीं हुआ। तीस-तीस रुपये की पर्ची कटी, बाइक एकदम सामने ही खड़ी रहने दी। धूप निकल चुकी थी, इसलिये वातावरण में पर्याप्त गर्मी थी और जैकेट की जरूरत महसूस नहीं हो रही थी। और असमिया लोगों पर भरोसा करते हुए इसे बाइक पर ही टांग दिया। असम के लोग एकदम भरोसे के निकले, जैकेट एक घंटे बाद ज्यों की त्यों मिली।

एक तोप है; अच्छा बगीचा है; कुछ सीढ़ियाँ हैं; खुली छत है; छोटी ईंटों के

खाली कमरे हैं; एक मंदिर है और मंदिर के बाहर दो बकरियाँ भी। नहीं, तीन हैं। नहीं, दो हैं शायद। हाँ, तीन ही हैं। एक मेमना है, बैठा हुआ है। पीछे कुछ लड़के भी आए हैं, जो लड़क-सुलभ हल्ला-गुल्ला नहीं मचा रहे हैं। गंभीर होकर फोटो भी खींच रहे हैं और सेल्फियाँ भी। हम भी उनसे दूर ही दूर रहते हुए कभी इस सीढ़ी, कभी उस सीढ़ी, कभी इस कमरे, कभी उस कमरे घूमते रहते हैं। पंद्रह-सोलह मिनट का अंदाजा था, एक घंटा लग गया। दीप्ति कभी-कभार जल्दी चलने को कहती तो मैं तीस रुपये की पर्ची दिखा देता।

असम और पूर्वोत्तर के बारे में बहुत कुछ जानना है। बहुत कुछ नहीं, बल्कि सब-कुछ जानना है। आज तो हम इसका पहला ही चैप्टर पढ़ रहे हैं। भारत को जानना है, तो शुरूआत पूर्वोत्तर से करनी होगी। भारत शुरू होता है यहाँ से।

तलातल घर से निकले तो कुछ लड़कियों के चक्कर में जोयसागर देखना रह गया। इंटरनेट बहुत अच्छा नहीं चल रहा था, लेकिन जितना भी चल रहा था उससे यह तो पता चल ही गया था कि इधर आसपास जोयसागर झील भी है। बहुत बड़ी झील है। लेकिन उधर स्कूल जाती बहुत सारी लड़कियाँ दिखीं, तो बाइक रोकी ही नहीं गई। मैं बाइक रोककर लफंगा नहीं कहलाना चाहता था।

यह सड़क सीधे गरगाँव पहुँचती है। यह स्थान भी अहोम राजाओं की राजधानी रहा है और यहाँ भी एक राजमहल है, जिसका नाम है - कारेंग घर। इसकी भी उस समय मुझे जानकारी तो थी, लेकिन असम टूरिज्म ने तलातल घर के सूचना-पट्ट पर लिख रहा है कि यही कारेंग घर भी है, तो गरगाँव वाला कारेंग घर दिमाग से निकल गया।

अभी तक मैं बिल्कुल भी अधिकार से नहीं लिख पा रहा हूँ। क्योंकि इतिहास और आर्किटेक्चर की मुझे शून्य जानकारी है। जो भी कुछ मैंने लिखने की कोशिश की है, वह गलत भी हो सकता है।

लेकिन एक चीज गलत नहीं हो सकती। रेल के फाटक बंद थे। एक लाइन तो बाएँ सीधे जा रही थी और एक लाइन बाएँ घूमकर पीछे की ओर जा रही थी। इनमें से सीधी लाइन तिनसुकिया जाती है और पीछे घूमती हुई लाइन डिब्रुगढ़। सिमालुगुडी की तरफ से एक ट्रेन की सीटी सुनाई पड़ रही थी। वह निश्चित ही जोरहाट से तिनसुकिया वाली पैसेंजर होगी। तकरीबन सौ मीटर दूर ट्रेन थी। मैं पढ़ तो नहीं पाया, लेकिन ट्रेन के सभी जनरल डिब्बे कह रहे थे कि यह पैसेंजर ट्रेन ही है। इस रूट पर दो ही पैसेंजर ट्रेनें चलती हैं - एक तो जोरहाट से तिनसुकिया और दूसरी लामडिंग से तिनसुकिया। लामडिंग से तिनसुकिया वाली ट्रेन शाम को आएगी।

आप नक्शा देखेंगे तो पाएँगे कि शिवसागर से डिगबोई जाने के लिये सोनारी वाला रास्ता डिब्रुगढ़ वाले परंपरागत रास्ते के मुकाबले छोटा पड़ता है। ट्रक और बसें भी डिब्रुगढ़ होकर ही जाते हैं। लेकिन वह रास्ता खराब है। कम से कम डिब्रुगढ़ तक तो खराब है ही, उसके बाद पता नहीं। तो अगर सोनारी वाला रास्ता भी खराब ही निकला, तो भी अच्छा ही रहेगा। इस पर भारी वाहन और भारी

यातायात नहीं मिलेगा।

और ऐसा ही हुआ। कहीं-कहीं सड़क खराब जरूर मिली, लेकिन कुल मिलाकर ठीक ही थी। हम जब सत्तर की रफ्तार से दौड़े जा रहे थे, तो दाहिनी तरफ पुरातत्व विभाग का एक सूचना-पट्ट लगा दिखा - चराइदेव मैदाम। स्पीड सत्तर ही रही, लेकिन यह नाम दिमाग में घूमने लगा - पढ़ा है इस नाम को कहीं। शायद कल इंटरनेट पर पढ़ा है। शायद इसे देखने का इरादा भी किया था। बाइक रोक ली। दीप्ति से पूछा - “वो पीछे चराइदेव ही लिखा था ना?”

“कहाँ? कहाँ लिखा था? क्या लिखा था?”

“चराइदेव।”

“मैंने ध्यान नहीं दिया।”

मोबाइल निकाला। इंटरनेट चलाया - “हाँ, यह चराइदेव ही है। अहोम राजाओं की पहली राजधानी।”

बाइक वापस मोड़ी और चराइदेव मैदाम वाली सड़क पर चल दिए।

कुछ ही आगे सड़क समाप्त हो गई। सामने दो द्वार थे - भारतीय पुरातत्व विभाग और असम राज्य पुरातत्व विभाग। पार्किंग थी। टिकट काउंटर था और कुछ यात्री टिकट भी खरीद रहे थे। बगल में जलपान हेतु कुछ दुकानें भी थीं। यह सब देखकर तसल्ली हुई कि हम एकदम सुनसान स्थान पर नहीं हैं। सामने ही एक किलोमीटर की दूरी पर नागालैंड की पहाड़ियाँ दिख रही थीं। देश का भी और असम का भी यह सुदूर कोना अगर सुनसान होता, तो हमें डर-सा लगता; लेकिन इतनी सारी दुकानें कह रही थीं कि डरने की कोई बात नहीं।

टिकट लेकर अंदर घूमकर आए। अच्छा लगा, बहुत अच्छा लगा। आधे घंटे बाद बाहर निकल रहे थे तो टिकट बाबू एकदम खाली बैठे थे। हमने बातचीत शुरू कर दी:

“आप कहाँ के रहने वाले हो, सर?”

“यहीं शिवसागर के पास का ही हूँ। आप लोग दिल्ली से बाइक पर ही आए हैं यहाँ?”

“नहीं, बाइक तो हमने ट्रेन से गुवाहाटी भेज दी थी। गुवाहाटी से हम बाइक चला रहे हैं।”

“तो आपको चराइदेव का कैसे पता चला?”

“आजकल ज्ञान इंटरनेट से मिलता है। लेकिन ज्यादातर बात अंग्रेजी में है। आप यहाँ के बारे में कुछ अपनी तरफ से बता दीजिए।”

“वर्ष 1228 में अहोम राजवंश की स्थापना यहीं चराइदेव में हुई थी। यह स्थान बहुत समय तक उनकी राजधानी भी बना रहा। तो यहाँ मैदाम में राजा लोगों की कब्रें हैं। जिस तरह मिस्र में हैं ना - पिरामिड; ठीक उसी तरह यहाँ भी है। आपने देखी होंगी टीले जैसी संरचनाएँ, वे असल में कब्रे ही हैं।”

“हाँ, और एक टीले की खुदाई भी हुई पड़ी है और उसके अंदर सुरंग व कमरे जैसा भी है। लेकिन पानी भरा था, हम अंदर नहीं जा सके।”

“बिल्कुल वही। उस कमरे में शव रखे थे और कुछ अन्य सामान भी था। बाद में उसे षट्कोणीय पिरामिड की आकृति में मिट्टी से ढक दिया जो अब तक अर्ध-गोलाकार बन गए हैं।”

“हाँ, इनके चारों ओर दो फीट ऊँची षट्कोणीय दीवार भी है। उससे यही पता चलता है कि ये आरंभिक काल में षट्कोणीय ही रहे होंगे।”

“बिल्कुल।”

“लेकिन एक बात बताइये। सबसे पहले इनका पता कैसे चला होगा? वो सामने नागालैंड की पहाड़ियाँ हैं। असम में भी ऊँची-नीची जमीन है। तो ये छोटे-छोटे टीले तो नन्हीं-नन्हीं पहाड़ियों जैसे ही लगते हैं। तो किसी को क्या पड़ी थी कि वो इनकी खुदाई करे और अंदर तहखाने तक पहुँचे?”

“चराइदेव राजधानी रही है। यह स्थान पुरातत्व-वेत्ताओं की नजर में तो था ही। फिर इन टीलों के चारों ओर पत्थर की षट्कोणीय दीवार भी किसी ओर इशारा करती थी। और एक दीवार में एक दरवाजे लायक जगह भी बनी थी। दरवाजा नहीं था, लेकिन उस हिस्से में पत्थर नहीं थे और माना जा सकता था कि यह दरवाजा है। उस ‘दरवाजे’ को आधार मानकर एक टीले की खुदाई की गई और इनके रहस्य से पर्दा हटा।”

“जो सामान या ममी टीले के अंदर से निकला, वो कहाँ है अब?”

“कुछ शिवसागर है, कुछ गुवाहाटी है और कुछ दिल्ली भी पहुँच गया।”

“केवल एक ही टीले की खुदाई हुई है या अन्य टीलों की भी हुई है?”

“योजना चल रही है, लेकिन यह स्थान इतनी दूर है कि किसी को दिखाई नहीं पड़ता। अगर यहाँ की भली प्रकार देख-रेख हो तो यहाँ से पुरातत्व को अच्छी आमदनी हो सकती है।”

“यह हालत पूरे देश में लगभग हर पुरा-स्थल की है।”

“नहीं, आपके उधर ऐसा नहीं है। ताजमहल, लालकिला, हुमायूँ का मकबरा इसका उदाहरण है। उनकी अच्छी देखरेख की गई है, तो वे स्थान भी विभाग को अच्छी आमदनी करके दे रहे हैं।”

“दो-चार स्थानों को छोड़ दें, तो किसी भी पुरातात्विक स्थान की हालत अच्छी नहीं है। पुरातत्व विभाग खुदाई-भर कर देता है और अपना नीले रंग का बोर्ड लगा देता है कि इस स्थान के साथ छेड़छाड़ करने पर जेल हो जाएगी और बात समाप्त। अच्छा, वो उधर दूसरा दरवाजा कैसा है?”

“वह दरवाजा असम राज्य आर्कियोलॉजी का है, जबकि यह दरवाजा सेंट्रल आर्कियोलॉजी का।”

“तो अलग-अलग क्यों कर रखे हैं? जबकि स्थान एक ही है; इतिहास, भूगोल

सब एक ही है?”

“सेंटर और स्टेट ने अपने-अपने काम का बँटवारा कर रखा है।”

“बेकार में ही बँटवारा कर रखा है। उधर जाने का भी टिकट लेना पड़ेगा क्या?”

“नहीं, इसी टिकट में काम हो जाएगा। घूमकर आइये उधर भी।”

हम असम राज्य पुरातत्व वाले हिस्से में घूमने चल दिए। चार-पाँच स्कूली बच्चे अपने बस्ते लिए घूम रहे थे।

“ओये, स्कूल से भागकर आए हो क्या?”

“नहीं, स्कूल की तरफ से ‘विजिट’ है। बाकी सब बच्चे उधर हैं, हम इधर घूम रहे हैं।”

“हिंदी बड़ी अच्छी जानते हो। स्कूल में पढ़ाई जाती है क्या?”

“हाँ जी, पहली कक्षा से ही हिंदी की पढ़ाई होती है।”

“तो दिखाना जरा अपनी हिंदी की किताबें।”

“आज हम खाली बस्ते ही लेकर आए हैं। भला आज भ्रमण वाले दिन क्यों किताब लेकर आएँगे?”

“बात तो सही है। चलो, एक लाइन में खड़े हो जाओ। सबके फोटो खींचेंगे।”

इधर छोटे-छोटे मैदाम हैं। ज्यादातर पाँच-पाँच, छह-छह मीटर व्यास वाले।

एक बड़े मैदाम के अंदर जाने का रास्ता था। सूखा भी था। इसके हम अंदर भी गए और ऊपर भी चढ़े, लेकिन डर बना रहा कि कहीं इसका ‘मालिक’ हमारे पीछे न पड़ जाए। मैदाम आखिर कब्र ही तो होता है, वो भी राजसी लोगों की।

चराइदेव के इन मैदामों को देखकर गर्व हुआ। भारत में भी पिरामिड हैं। हाँ, केवल मिस्र में ही पिरामिड नहीं हैं, हमारे भारत में भी पिरामिड हैं। मिस्र के पिरामिड विश्व-प्रसिद्ध हैं, भारत के पिरामिड भी विश्व-प्रसिद्ध न सही, लेकिन भारत-प्रसिद्ध तो होने ही चाहिए। भारत के प्रत्येक नागरिक को ये पिरामिड अवश्य देखने चाहिए।

दोपहर के ग्यारह बज चुके थे। हमें आज जागुन रुकना था, जो यहाँ से 150 किलोमीटर दूर है। रास्ता पता नहीं कैसा हो। चार बजे तक हमें वहाँ हर हाल में पहुँच जाना है। अनजान रास्तों पर हम अंधेरे में बाइक नहीं चलाना चाहते थे।

थोड़ी ही दूर सोनारी है। काफी बड़ा कस्बा है। कुछ ही समय पहले शिवसागर जिले से अलग करके चराइदेव जिला बनाया गया है और सोनारी इसका मुख्यालय है। बड़ी चहल-पहल थी। सोनारी से सीधे चलते रहे। सड़क ज्यादातर अच्छी ही रही। चाय के बागान और उनमें काम करते मजदूर। साप्ताहिक हाट के लिए बनाए गये बाँस के खाली छप्पर। धान के खेत और दाहिनी तरफ अरुणाचल की पहाड़ियाँ। जी हाँ, कुछ ही देर पहले नागालैंड की पहाड़ियाँ थीं, और अब अरुणाचल की।

दिसांग नदी पर लोहे का पुल मिला - दिल्लीघाट पुल। शानदार नजारा था। छोटी-छोटी पहाड़ियाँ। जंगल भी। ये अरुणाचल की पहाड़ियाँ हैं। हम खुश हो गए। अरुणाचल के इतना नजदीक! लेकिन अभी हम यहाँ प्रवेश नहीं कर सकते थे। प्रवेश तो जागुन से ही करना है। भले ही वर्तमान में बाकी अरुणाचल पूर्ण शांत हो, लेकिन ये जिले अर्थात् नागालैंड से मिलता तिरप जिला और आगे चांगलांग जिला अशांत स्थान हैं। नागा लोग इन जिलों को भी नागालैंड में शामिल करना चाहते हैं। और जब दिल्लीघाट पुल के नजदीक सुरक्षाबल एकदम चौकस मुद्रा में बंदूक तैयार करके तैनात दिखे तो मेरी इस धारणा को और बल मिला। दिल्लीघाट के बोर्ड का एक फोटो तो जरूर लिया, लेकिन इसके बाद ऐसे रफूचककर हुए कि सीधे नामरूप जाकर ही साँस ली।

दिल्लीघाट और नामरूप के बीच ज्यादातर सड़क खराब थी, लेकिन इसके बाद बेहद शानदार सड़क आ गई। नामरूप से जयपुर कब पहुँच गए, पता ही नहीं चला। यह शानदार सड़क तो बाएँ मुड़कर दुलियाजान चली गई, लेकिन नक्शा बता रहा था कि हमें सीधे ही चलना चाहिए। सीधे चलते रहे। कुछ दूर तक ईंटों की सड़क थी, लेकिन नदी का पुल पार करते ही अच्छी सड़क आ गई। सिंगल लेन सड़क थी, लेकिन कोई यातायात नहीं था। सुदूर असम के गाँव और धान के खेत। मोटरसाइकिल यात्रा का यही लाभ है। मोटरसाइकिल न होती, तो हम कभी भी इन रास्तों पर नहीं आ सकते थे। डिब्रुगढ़ वाले नेशनल हाईवे पर ही चिपके रहते।

फिर से दुलियाजान से आने वाली सड़क मिल गई। यह सड़क डिगबोई जा रही थी। एकदम सीधी सड़क थी। तेल वालों ने बनाई थी।

आप अगर स्कूली दिनों में भूगोल के औसत विद्यार्थी भी रहे होंगे तो आपको याद होगा कि डिगबोई में तेल के कुएँ हैं। कुएँ हैं तो रिफाइनरी भी है और रेलवे लाइन भी। दुलियाजान से डिगबोई की सड़क पर किलोमीटर के प्रत्येक पत्थर पर ऑयल इंडिया का 'लोगो' बता रहा था कि इस सड़क की देखरेख ऑयल इंडिया करती है। इस सड़क का सबसे रोमांचक हिस्सा तब आया, जब हमने 'दिहिंग पटकार्ई एलीफेंट रिजर्व' में प्रवेश किया। पूर्वोत्तर में जहाँ भी जंगल होता है, वो जंगल ही होता है। असली जंगल। बारिश ज्यादा होने के कारण और नमी भी ज्यादा रहने के कारण पेड़ और झाड़ियाँ जमकर उगते हैं। और इनमें पलते हैं तमाम तरह के पक्षी, सरीसृप और जानवर।

जंगल का यह हिस्सा 'दिहिंग पटकार्ई वाइल्डलाइफ सेंचुरी' का एक भाग है। कह सकते हैं कि वाइल्डलाइफ सेंचुरी का बाहरी हिस्सा है। ऐसे में किसी बड़े जानवर के मिलने की ज्यादा संभावना नहीं होती, लेकिन जंगल तो जंगल ही होता है।

तीन बजे डिगबोई पहुँच गए। यहाँ तिनसुकिया से आने वाला नेशनल हाईवे भी मिल जाता है। अगर हम शिवसागर से डिब्रुगढ़ होकर आते तो इसी मार्ग से आते। शिवसागर के आसपास भले ही यह खराब हो, लेकिन यहाँ यह बेहद शानदार था। भूख भी लगी थी, सुबह से चाय आदि पर ही निर्भर थे। डिगबोई में कुछ खा लेने

का इरादा था। जैसे ही नेशनल हाईवे पर पहुँचे, सामने रेलवे फाटक था और हमें फाटक से पहले ही दाहिने मुड़ना था। हम दाहिने मुड़ गए और खाने-पीने की सभी दुकानें फाटक के उस तरफ ही रह गईं। डिगबोई पीछे छूट गया और शुरू हो गए दोनों ओर चाय के बागान।

और रेल की लाइन भी। यह लाइन लीडो जाती है। पहले कभी यह मीटरगेज थी और लीडो से भी आगे लेखापानी तक जाती थी। गेज परिवर्तन के दौरान लेखापानी स्टेशन को बंद कर दिया गया और वर्तमान में ट्रेन लीडो तक ही जाती है। इसके बारे में खास बात यह है कि पहले लेखापानी भारत का सबसे पूर्वी स्टेशन हुआ करता था, अब लीडो सबसे पूर्वी स्टेशन है। फिलहाल इस स्टेशन की व्यस्तता का आलम यह है कि डिब्रुगढ़ और तिनसुकिया से केवल तीन लोकल ट्रेनें और गुवाहाटी से एक इंटरसिटी ट्रेन यहाँ आती हैं। दिनभर में सिर्फ चार ट्रेनें ही।

लेकिन अभी हम लीडो नहीं पहुँचे हैं, तो मैं क्यों इसका जिक्र करने बैठ गया? बात यह है कि मैं पाँच साल पहले इस लाइन पर लोकल ट्रेन में यात्रा कर चुका हूँ। डिगबोई से आगे जहाँ से रेलवे लाइन पार की, वहीं बगल में पावै रेलवे स्टेशन है। स्टेशन के नाम वाला बोर्ड खस्ताहाल था, दीप्ति ने अंग्रेजी देखकर 'पवाई' पढ़ा।

“नहीं, यह पवाई नहीं, बल्कि पावै है।”

“तुझे कैसे पता?”

“...”

“ठीक है। समझ गई।”

एक यही काम तो ढंग से करना सीखा है जिंदगी में। नई-नई रेलवे लाइनों पर लोकल ट्रेनों में घूमना।

पावै से थोड़ा आगे एक गाँव में कहीं समोसे बनते दिख गए। बाइक रुकनी ही थी। दिल्ली की बाइक और छोटे-से गाँव में समोसों की दुकान पर रुकी, तो दुकान के मालिक ने बड़ी इज्जत दी। हमें हाथ धोने थे। उसने हमारे साथ लड्डके को भेज दिया। तीन-चार घरों के बीच से हमें गुजारता हुआ वह एक बाथरूम में ले गया। वहाँ नल भी था और साबुन भी।

“नहीं, वे ठंडे समोसे हैं। दोपहर के बने हुए हैं। अभी आपके लिए ताजे बनाता हूँ। कितने समोसे लोके आप?”

“चार।”

उसने गिनकर चार समोसे हमारे लिए ताजे बनाए। साथ ही यह भी बता दिया कि हमें जागुन पहुँचने में पूरे पच्चीस मिनट लगेंगे।

मार्घेरिटा में बड़ी चहल-पहल थी। हिंदी में लिखा था - “कोयला रानी मारघेरिटा में आपका स्वागत है।” असमिया में लिखा था - “कयला रानी मार्घेरिटा लै आपोनाक स्वागतम्।” अरे वाह! दो ही दिनों में मैं असमिया पढ़ना जान गया। चलिए, आपको भी बताता चलूँ कि असमिया भाषा बांग्ला लिपि में लिखी जाती है। और हिंदीभाषियों के लिए असमिया या बंगाली पढ़ना पंजाबी

पढ़ने के मुकाबले ज्यादा आसान होता है। वैसे मुझे कुछ अक्षरों की अभी तक भी पहचान नहीं हो सकी है और मात्राओं में 'ए' व 'ओ' की मात्राएँ भी खासा दिमाग खर्च करा देती हैं।

कई बसें गुवाहाटी जाने को तैयार खड़ी थीं। ये ओवर-नाइट बसें थीं, सुबह तक गुवाहाटी पहुँचेंगी।

इससे आगे तो लीडो ही आ जाता है। साढ़े चार बजने वाले थे। सूरज छिप चुका था, केवल पाँच-दस मिनट का उजाला ही बाकी था। और मेरा सारा ध्यान लेखापानी पर था। पाँच साल पहले मैं केवल लीडो तक ही आया था, इस बार लेखापानी के उस पुराने स्टेशन को किसी भी हालत में देखे बिना नहीं छोड़ सकता था।

तभी दीप्ति ने कहा - “मुझे भी लीडो स्टेशन देखना है। भारत का सबसे पूर्वी स्टेशन।”

सड़क से दाहिने मुड़कर स्टेशन परिसर को पार करके प्लेटफार्म के आखिरी छोर पर पहुँचे और दो-चार फोटो लेकर आगे बढ़ चले। अच्छा हाँ, यह हिंदी में 'लीडो' है और असमिया में 'लिडु'।

लेखापानी - सड़क के एकदम किनारे। वर्ष 1890 के आसपास यह स्टेशन बना था। यहाँ कोयले की खदानें थीं, अभी भी हैं। तो कोयला ढोने के लिए यहाँ तक रेल लाई गई थी। बाद में दूसरे विश्वयुद्ध के समय लेखापानी से ही 'स्टिलवेल रोड़' बनाई गई, जो पांगशू पास होते हुए बर्मा में प्रवेश करती थी और आगे चीन जाती थी। उस समय इस रेलवे लाइन को भी लेखापानी से आगे बढ़ाकर बर्मा तक बनाने की योजना बनी थी, लेकिन अरुणाचल के आदिवासियों ने इतनी अड़चनें पैदा कीं कि रेलवे लाइन लेखापानी से आगे गई ही नहीं। फिर 26 अगस्त 1993 को इस लाइन को मीटरगेज से ब्रॉडगेज में बदलने के लिए बंद कर दिया गया, लेकिन लेखापानी स्टेशन तक गेज परिवर्तन नहीं हुआ। लीडो और उससे थोड़ा आगे तिपोंग खदानों तक ही गेज परिवर्तन हुआ।

फिलहाल रेलवे ने यहाँ एक 'मेमोरियल' बना रखा है। मीटरगेज की पुरानी लाइनें भी हैं; स्टेशन की खस्ताहाल इमारत भी है; मिट चुका टाइम-टेबल भी है और सबसे शानदार पीले रंग का स्टेशन के नाम वाला बोर्ड भी है; जिस पर हिंदी, अंग्रेजी और असमिया में 'लेखापानी' अभी भी पढ़ा जा सकता है।

हमें फोटो खींचते देख एक आदमी पास आया - “क्या यहाँ रेल फिर से आएगी?”

“नहीं।”

वैसे कभी-कभार खबर उड़ती है कि लेखापानी से आगे अरुणाचल में खरसांग तक रेलवे लाइन बनेगी, लेकिन मुझे पता है कि नहीं बनेगी।

...

सीधे जागुन और गीताली सड़किया जी के घर पर। गीताली जी के फेसबुक पर हजारों फॉलोवर्स हैं और वे अक्सर शानदार हिंदी में अपनी बात लिखती हैं। कई बार तो उनकी हिंदी देखकर मैं भी दाँतों तले उंगली दबा लेता हूँ। जिस विषय पर भी लिखती हैं, पूरे अधिकार से लिखती हैं। ज्यादातर लोगों की तरह मैं भी उनके लेख चुपचाप पढ़कर खिसक लिया करता था, लेकिन पता नहीं उन्हें कैसे मेरे बारे में पता चल गया। मैंने एकाधिक बार पूर्वोत्तर की यात्राएँ कर रखी हैं, तो वे कई बार अपने लेखों में मुझे भी टैग कर चुकी हैं। और हमारी इस यात्रा की नींव भी एक साल पहले उन्होंने ही रखी थी, जब उन्होंने विजयनगर जाने का सुझाव दिया था। यह अरुणाचल वाला विजयनगर था। हमारी यह यात्रा इसी विजयनगर की 'खोज' के लिए हो रही थी। इस स्थान के बारे में हम आगे चलकर बताएँगे।

गीताली जी के घर पर उनके परिवार के सभी लोग हमारा इंतजार कर रहे थे। बड़ा अच्छा स्वागत हुआ। और हाँ, अगर आप हमारी तरह शाकाहारी हैं, तो जब भी आप कभी इस तरह पूर्वोत्तर में किसी स्थानीय के घर पर जाओ, तो मेजबान से बता देना उचित रहता है कि आप शाकाहारी हैं।

“जब हमारे यहाँ कोई शाकाहारी मेहमान आता है तो हमें यह डिसाइड करने में बड़ी समस्या होती है कि खाने में क्या बनाएँ। अगर आप मांसाहारी होते तो एक मुर्गा गया था और हम लोग उसे पचास तरीके से बना सकते थे। लेकिन शाकाहार में हमें समझ ही नहीं आता कि कौन-सी घास किस घास के साथ मिलाकर अच्छी लगेगी।” गीताली जी ने कहा।

फिर भी पनीर की सब्जी थी, आलू की सब्जी भी थी, दाल भी थी और रोटी भी, चावल भी। कुल मिलाकर शानदार दावत थी।

खाना समाप्त हुआ तो सामने पान आ गया। हमने कभी पान नहीं खाया था और खाना भी नहीं चाहते थे। उधर गीताली जी उत्तर भारतीय रिवाजों से अच्छी तरह परिचित हैं और जानती हैं कि उधर सभ्य समाज में पान खाना ठीक नहीं माना जाता।

कहने लगीं - “हमारे यहाँ मेहमान को पान देने का अर्थ है कि हमने उनका दिल खोलकर स्वागत किया है। और अगर मेहमान ने पान नहीं लिया तो इसे ठीक नहीं समझा जाता। लेकिन मुझे यह भी पता है कि आपके यहाँ पान खाना खराब माना जाता है, तो मैं आपको फोर्स नहीं करूँगी। लेकिन फिर भी चाहूँगी कि आप पान खाएँ।”

“देखिए, पान अगर दिल खोलकर स्वागत करने का प्रतीक है तो हम इसे अवश्य खाएँगे। आप केवल यह बता दो कि इसे थूकना ही पड़ेगा या निगल भी सकते हैं।”

“आप इसे निगल भी सकते हैं।”

और मैंने केवल पान का पत्ता लिया, चबाया और धीरे-धीरे करके निगल गया। जबकि दीप्ति ने पत्ते के साथ बाकी मसाले भी लिए और चबाते ही थूकने की जगह ढूँढने लगी।

बाहर टहलने निकल पड़े। आसमान में निगाह गई तो आकाशगंगा दिखाई पड़ी। मेरे पास जोरदार कैमरा नहीं था, अन्यथा इसका फोटो लेता। गीताली ने कहा - “यह आकाशगंगा है? हमारे यहाँ तो रोज ही आसमान ऐसा दिखता है।”

“आकाशगंगा दिखने का अर्थ है कि वातावरण एकदम साफ-सुथरा है। दिल्ली और उधर के अन्य शहरों में आकाशगंगा नहीं दिखती।”

टहलते-टहलते बाजार में पहुँच गए। एक आदमी अपनी सरिये की दुकान बंद करने जा रहा था। गीताली ने आवाज लगाई - “कैसे हो दादा? देखो, ये लोग दिल्ली से आए हैं।”

ये गड़वाल साहब थे। मूल रूप से राजस्थान झुंझनूँ के रहने वाले हैं, लेकिन व्यवसाय करते-करते अब यहीं बस गए। इनका काम जागुन समेत उधर अरुणाचल में मियाओ और जयरामपुर तक फैला हुआ है। आधे पौने घंटे तक बातचीत होती रही। अपनी जिंदगी की बातें बताते रहे। असम और अरुणाचल के बारे में बताते रहे। और यह भी विस्तार से बताया कि अरुणाचल में काम करना बहुत मुश्किल है। स्थानीय जनजातीय लोग व्यापारियों से जमकर वसूली करते हैं और कई बार जान से भी मार देते हैं।

“उधर तिरप और आगे नागालैंड में तो सरकारी कर्मचारियों तक से वसूली होती है।”

“और असम में?”

“ना, बिल्कुल भी नहीं।”

और बातों-बातों में एक अनोखी बात पता चली - “अरुणाचल में असम के मुकाबले डीजल-पेट्रोल तीन रुपये सस्ता है। टैंकर का अरुणाचल का परमिट होता है और तेल असम में बेच दिया जाता है - तीन रुपये ज्यादा कीमत पर। बारह हजार लीटर का टैंकर होता है। छत्तीस हजार रुपये सीधे अपनी जेब में।”

“और फिर अरुणाचल के पेट्रोल पंप वाले उसी में से वसूली चुकाते रहते हैं।”

“हाँ। देखिए, अगर यहाँ काम करना है और अपनी जान भी बचाए रखनी है तो वसूली तो चुकानी पड़ेगी। पता नहीं कितने गिरोह हैं। साप्ताहिक से लेकर वार्षिक तक।”

“वार्षिक भी?”

“हाँ जी। नागा लोग अरुणाचल के तिरप और चांगलांग जिलों को भी अपना ही मानते हैं, तो वे यहाँ तक आते हैं वसूली करने। और यहाँ के लोकल गिरोह तो हैं ही।”

गीताली ने कहा - “अभी कुछ ही समय पहले बोरदुमसा में पूरा परिवार दाव से काट दिया गया था। दो महीने के बच्चे तक को नहीं छोड़ा।”

अब तक तो मेरी हवा गुल होने लगी थी - “टूरिस्टों को तो कुछ नहीं कहते ना?”

“ना, बिल्कुल भी नहीं। लोग सीधे हैं। वे जरूर तय समय पर व्यापारियों के पास आते हैं और निर्धारित पैसे लेकर चले जाते हैं। इन लोगों की अपनी दुकानें भी हैं। कहीं-कहीं होटल भी हैं। टूरिस्टों की खूब सेवा-टहल करते हैं। ठगी बिल्कुल नहीं करते। दिल के सच्चे हैं। आप निश्चिंत जाओ। मियाओ में कोई जरूरत पड़े तो मुझे फोन कर देना या किसी भी दुकान पर जाकर मेरा नाम ले लेना। मियाओ में होटल नहीं हैं, लेकिन रुकने और खाने-पीने की कोई समस्या भी नहीं होगी।”

बातों का कोई अंत नहीं होता। उन्हें भी रस आ रहा था और हमें भी। लेकिन सोना जरूरी था।

“तो ठीक है भाई, कल यहाँ से चलेंगे तो आपसे मिलते हुए जाएँगे।”



3. नामदफा नेशनल पार्क

11 नवंबर 2017

“हम जब लौटेंगे तो हमें परशुराम कुंड की तरफ जाना है, लेकिन गूगल मैप पर मियाओ के पास नो-दिहिंग के उस पार से एक सड़क जाती दिख भी रही है; और समस्या ये है कि नो-दिहिंग पर कोई पुल नहीं है। इसे पार कैसे करेंगे? नहीं तो फिर वापस जागुन होते हुए ही डिगबोई और फिर बोरदुमसा वाला रास्ता लेना होगा, जो कि बहुत ज्यादा लंबा पड़ेगा।”

गीताली ने उत्तर दिया - “नहीं, आपको डिगबोई जाने की जरूरत नहीं पड़ेगी। हमारे घर के पीछे ही दिहिंग नदी बहती है। उसके उस तरफ अरुणाचल है और एक सड़क भी सीधे बोरदुमसा जाती है।”

“इसे पार कैसे करेंगे?”

“हो जाएगा सब।”

तो सुबह नौ बजे जागुन से निकल पड़े। ‘फिर आना’, ‘दो दिन रुकना’ समेत ढेरों आशीर्वाद भी मिले। गीताली की माताजी और भतीजे पुचकू समेत सभी हमें बाहर तक छोड़ने आए। हम अभिभूत हो गए, इतने सुदूर में ऐसा प्यार पाकर!

जागुन से बॉर्डर तक की सड़क बहुत खराब हालत में थी। आठ किलोमीटर की इस दूरी को तय करने में आधा घंटा लग गया। इस दौरान एक बस भी मियाओ से इटानगर जाती दिखी।

जंगल के बीचोंबीच वाहनों की कतार मिली। समझते देर न लगी कि हम अरुणाचल में प्रवेश करने वाले हैं। हम सभी वाहनों को ओवरटेक करते हुए सबसे आगे जा लगे। किसी वाहन चालक ने कोई आपत्ति नहीं की। आपत्ति की पुलिसवाले ने। वह काफी चिड़चिड़ा था और उसका पाला रोज ही अजीब-अजीब लोगों के अजीब-अजीब सवालों व चेष्टाओं से होता होगा।

“ओये, बाइक पीछे लगाओ। सबसे पीछे।”

“हाँ-हाँ। लगा रहे हैं। एक मिनट ठहर जाओ।”

“ठहरना नहीं है। अभी पीछे जाओ।”

मैंने सारे कागज, परमिट और पहचान-पत्र अपने साथ लिए और दीप्ति बाइक

को पीछे ले गई। अब पुलिसवाले को कोई आपत्ति नहीं थी।

दो लड़के भी अरुणाचल जाना चाहते थे, लेकिन उनके पास परमिट नहीं थे। वे पुलिसवाले से खूब मिन्नतें कर रहे थे, लेकिन कोई फायदा नहीं हुआ।

“यहाँ से परमिट नहीं बनेगा। आपको मोहनबाड़ी से बनवाकर लाना पड़ेगा।”

मोहनबाड़ी मतलब डिब्रुगढ़। मैंने सलाह दी कि यह ऑनलाइन भी बन जाता है। आप एप्लाइ कर दो। नसीब अच्छा हुआ तो कुछ ही देर में अप्रूव हो जाएगा। आपको डिब्रुगढ़ नहीं जाना पड़ेगा।

‘ऑनलाइन’ सुनते ही बाहर खड़ा वो चिड़चिड़ा पुलिसवाला बोला - “नहीं, यहाँ ऑनलाइन नहीं चलता। अगर आपने ऑनलाइन बनवाया है, तब भी आपको मोहनबाड़ी से लिखवाकर लाना पड़ेगा।”

हमारे पास तो ऑनलाइन परमिट का प्रिंट-आउट था। अंदर बैठे पुलिसवाले ने बड़ी इज्जत से सभी कागज देखे, अपने रजिस्टर में एंट्री की और जाने को कह दिया। बाहर वाला दूसरे लोगों पर और वाहनों पर अपनी हड़क ही दिखाता रहा। मैंने दीप्ति की तरफ हाथ लहराया और वह बाइक लेकर आ गई। बैरियर खुला और साढ़े नौ बजे हम अरुणाचल में प्रवेश कर गए।

भले ही अरुणाचल भारत के बाकी राज्यों की तरह एक राज्य हो, लेकिन फिर भी यह विशिष्ट है। विशिष्ट क्यों है, हम इस तर्क में नहीं पड़ेंगे। बस, विशिष्ट है तो है। प्रवेश करते ही दो चीजों से सामना हुआ - शानदार सड़क और बर्फीली चोटी। यहाँ फिलहाल वो घना जंगल तो नहीं था, जो हमें असम में जागुन से यहाँ तक आने में मिला था, लेकिन अच्छी सड़क और बीच-बीच में कुछ गाँव अवश्य थे।

अरुणाचल जनजातियों का प्रदेश है। पूरब से पश्चिम तक यह जनजाति, वह जनजाति। हर जनजाति का अपना इतिहास, अपनी संस्कृति और अपनी खासियत। लेकिन मैं इन सब बातों का जानकार नहीं। जानने की इच्छा होती है, इनके बारे में पढ़ता भी रहता हूँ; लेकिन भूल जाता हूँ। तो हम जिन गाँवों से होकर गुजर रहे थे, इनमें कौन-सी जनजाति निवास करती है; पता नहीं।

और दाफाबुम के तो कहने ही क्या! वो जो सामने बर्फीली चोटी दिख रही है, वही दाफाबुम है। दाफा माने पता नहीं और बुम माने भी पता नहीं। इसी दाफा से नामदाफा नेशनल पार्क बना है। वह चोटी नेशनल पार्क के अंदर ही है। 4200 मीटर से ऊँची वह चोटी इधर की सबसे ऊँची चोटी है।

इधर की मतलब किधर की?

मतलब चांगलांग जिले की। या कहिए कि पटकाई रेंज की।

अब यह पटकाई क्या है?

पूर्वोत्तर भारत में अरुणाचल को छोड़कर बाकी सभी राज्यों में जो पहाड़ियाँ हैं, वे पटकाई पहाड़ियाँ हैं। क्षेत्रीयता के अनुसार इनके अलग-अलग नाम हैं। जैसे मेघालय में गारो, खासी, जयंतिया; असम में हाफलोंग की पहाड़ियाँ या दिमासा हिल्स; मिजोरम, मणिपुर, त्रिपुरा में लुशाई हिल्स। इनका विस्तार सीमा के उस

तरफ म्यांमार में भी है। ये पहाड़ियाँ हिमालय पर्वत श्रृंखला का हिस्सा नहीं हैं, लेकिन अरुणाचल के पूर्वी भाग में ये हिमालय से जुड़ी हैं। हिमालय और पटकाई के बीच कोई स्पष्ट विभाजन नहीं है, लेकिन कहा जा सकता है कि लोहित नदी के दक्षिण में पटकाई है। हम लोहित के दक्षिण में थे, इसलिए पटकाई में थे।

अभी हम समुद्र तल से 200 मीटर ही ऊपर थे और हमें 4200 मीटर ऊँची चोटी दिख रही थी। इसकी मैंने कल्पना नहीं की थी। लेकिन अब जब दिख ही गई तो पहचानते भी देर नहीं लगी। इधर दाफाबुम से ऊँची कोई चोटी है ही नहीं।

खरसांग में पेट्रोल पंप मिला। टंकी फुल करा ली। एक सड़क बायीं तरफ जाती दिखी। शानदार बनी थी। मेरी जानकारी में यह सड़क नहीं थी। पूछताछ करनी पड़ी। पता चला बोरदुमसा जाती है।

“क्या? बोरदुमसा?”

“हाँ जी।”

“बोरदुमसा तक ऐसी ही बनी है क्या?”

“हाँ जी, नई बनी है। शानदार है।”

यह तो बड़ी अच्छी बात है। अब हमें बोरदुमसा जाने के लिए वापस जागुन नहीं जाना पड़ेगा। यहीं से जाएँगे।

मियाओ पहुँचे। इसके बारे में जैसी उम्मीद की थी, यह वैसा नहीं है। मैंने सोचा था, कम से कम कस्बा तो होगा ही। लेकिन यह तो एक गाँव ही है। जागुन जाने के लिए कई जीपें खड़ी थीं। कुछ दुकानें थीं। एक सड़क दाहिने जा रही थी, एक बाएँ। इनमें से एक सड़क एम.वी. रोड है, यानी मियाओ-विजयनगर रोड। आज हमें नामदफा नेशनल पार्क में रुकना है।

“फोरेस्ट ऑफिस उधर है, एक किलोमीटर आगे।”

हम सीधे फोरेस्ट ऑफिस पहुँचे। बगल में एक छोटा-सा चिड़ियाघर भी है। कुछ सरकारी मकान बने हुए हैं। एक रेस्ट हाउस भी है। मियाओ ही नामदफा नेशनल पार्क का प्रवेश द्वार है। नेशनल पार्क में प्रवेश करने का परमिट और अंदर रुकने की व्यवस्था यहीं से करनी होगी।

“सर, आज तो ‘सेकंड सैटरडे’ है। आज तो ऑफिस बंद है और कल रविवार होने के कारण बंद रहेगा।”

हमें झटका लगा।

“अब?”

“अब कुछ नहीं हो सकता। परसों आना।”

यह वास्तव में एक बड़ा झटका था। हमें रविवार तो याद था, लेकिन ‘सेकंड सैटरडे’ की कोई कल्पना भी नहीं की थी। परमिट बन ही जाना चाहिए था। हाँ, एक बात के लिए हम तैयार थे। हो सकता है कि शनिवार और रविवार होने के कारण नेशनल पार्क के भीतर रेस्ट हाउस फुल हो। इसके लिए हम जरूर तैयार थे।

रेस्ट हाउस देबान नामक स्थान पर है। तो उसके फुल होने की स्थिति में हम बाइक से देबान तक जाते और शाम तक वापस मियाओ लौट आते। ऐसा हमने पहले ही सोच रखा था। लेकिन देबान तक जाने का परमिट भी और वहाँ रुकने का परमिट भी; दोनों ही मियाओ से बनते हैं और आज छुट्टी थी।

“अब क्या करें?” दीप्ति ने पूछा।

“आज तो मियाओ ही रुकेंगे। विजयनगर के बारे में सारी जानकारी लेनी है। अलग-अलग लोगों से अधिकतम जानकारी लेनी है। यहाँ आने का हमारा मकसद विजयनगर की जानकारी जुटाना ही है।”

अब गड़वाल साहब याद आए। रुकने की व्यवस्था के लिए उन्हें फोन करने ही वाला था कि ऑफिस से एक महिला बाहर निकली।

“आप लोग दिल्ली से ही बाइक से आए हो?”

“नहीं, गुवाहाटी तक ट्रेन से और उसके बाद बाइक से।”

“बड़ी हिम्मत का काम है।... आपने एडवांस में कोई बुकिंग कराई थी क्या?”

“नहीं, हमें जानकारी मिली थी कि बुकिंग मियाओ से ही होती है, तो हम सीधे मियाओ ही आ गए।”

“आज तो साहब लोग नहीं आए हैं। लेकिन एक काम हो सकता है। पास में ही साहब का क्वार्टर है। वहाँ जाकर उनसे बात कर लो।”

रोशनी दिखाई पड़ी।

“कहाँ है क्वार्टर? किधर है?”

“ये इधर से जाओगे ना? वहाँ से दाहिने मुड़ जाना। फिर टी-पॉइंट से बाएँ मुड़ना। एक गली छोड़कर दूसरी में फिर से बाएँ मुड़ना। दो क्वार्टर छोड़कर तीसरा क्वार्टर साहब का है।”

“समझ गया। इधर से जाकर बाएँ मुड़ना है...”

“नहीं, पहले दाहिने मुड़ना है।... अच्छा रुको, किसी को भेजती हूँ आपके साथ।”

साहब क्वार्टर पर नहीं थे और उनका फोन नेटवर्क से बाहर आ रहा था। उनकी पत्नी ने बताया कि वे हर हाल में बारह बजे तक लौट आएँगे। अभी ग्यारह बजे थे। मैं वापस ऑफिस में जाकर बैठ गया।

“एक एप्लीकेशन लिख दो। आपका नसीब अच्छा है कि देबान में एक कमरा खाली है; अन्यथा इस मौसम में शनिवार, रविवार को वह पूरा भरा रहता है।”

एप्लीकेशन लिख दी कि हम दो लोग 11 और 12 यानी दो रात देबान फोरेस्ट रेस्ट हाउस में रुकना चाहते हैं। किसी ने उसके आधार पर उसे कंप्यूटर पर अपने शब्दों में टाइप कर दिया और बताया - “आज की ऑफिस की छुट्टी रहती है, लेकिन आपके कारण मैं अपने क्वार्टर से आया हूँ। अब इसे लेकर साहब के यहाँ साइन कराने जाऊँगा।”

“मुझे भी चलना पड़ेगा क्या?”

“नहीं, आपको नहीं चलना पड़ेगा।”

बारह बजे तक परमिट हमारे हाथ में आ गया। यहाँ सौ रुपये लगे और इसकी रसीद भी मिल गई। बताया कि आगे नेशनल पार्क के गेट पर भी आपकी पर्ची कटेगी और रेस्ट हाउस में भी। वहाँ भी आपको नियमानुसार पैसे देने होंगे।

“और ध्यान रखना। रास्ता बहुत खराब है। यहाँ से देबान 25 किलोमीटर दूर है। आठ किलोमीटर तक अच्छी सड़क है, उसके बाद बहुत खराब है। डेढ़-दो घंटे लगेंगे। समय बहुत है, आराम से जाना।”

यहाँ मियाओ से कुछ पैकेटबंद जूस ले लिया और कुछ बिस्कुट-नमकीन भी। खाना तो रेस्ट हाउस में मिल ही जाएगा।

मियाओ से एमपेन तक यानी आठ किलोमीटर तक अच्छी सिंगल लेन की सड़क है। बीच में कुछ गाँव भी हैं, जहाँ बच्चे आपको खेलते हुए दिख जाएँगे। एमपेन में नेशनल पार्क का बैरियर है। हमें दो दिन नेशनल पार्क में रुकना था, लेकिन यहाँ एक दिन की पर्ची कटी। बाकी एक दिन की पर्ची देबान में कटेगी। 50-50 रुपये हम दोनों का नेशनल पार्क का प्रवेश-शुल्क, 100 रुपये कैमरा शुल्क और 300 रुपये बाइक का शुल्क - कुल मिलाकर 500 रुपये।

“आराम से जाना। जंगली और पहाड़ी रास्ता है। कीचड़ भी है। बायीं ओर ही रहना और हॉर्न बजाते हुए चलना।”

अब सड़क गायब हो गई। वैसे भी नेशनल पार्कों के अंदर पक्की सड़क बनाना मना होता है, शायद इसीलिए इसे भी पक्का नहीं बनाया।

यहाँ से चलते ही एक नदी मिली। पानी भी ज्यादा नहीं था और बहाव भी ज्यादा नहीं था।

“बरसात में इसे पार करना बहुत मुश्किल हो जाता है। वो देखिए, पुल कुछ ही महीने पहले टूटा है। बहुत पानी आता है इसमें।” देबान से लौट रहे एक जंगलकर्मी ने बताया।

लेकिन इसका पानी बहुत साफ था। इतना साफ कि इसमें बाइक घुसाने का भी मन नहीं कर रहा था।

कुछ दूर पहाड़ के किनारे चलने के बाद रास्ता नीचे नदी किनारे उतर गया। यह थी नो-दिहिंग नदी। वैसे नदी तो दूर थी, लेकिन हम नदी के तल में ही थे। यहाँ भी एक जलधारा में बाइक घुसानी पड़ी। बगल में बाँस का पुल था, जो पैदल यात्रियों के लिए था।

यहाँ दो-तीन गाँव थे। नेशनल पार्क के अंदर गाँव! बाद में पता चला कि पार्क प्रशासन ने इन गाँवों को विस्थापित करने के बहुतेरे प्रयत्न किए, लेकिन ये लोग यहाँ से नहीं गए। पार्क प्रशासन में ज्यादातर बाहर के लोग होते हैं, इसलिए भी वे इन जनजातीय ग्रामीणों से टकराने से बचते हैं। देबान में मुझे एक पुस्तिका भी हाथ लगी थी, जिसमें पार्क प्रशासन की ओर से सरकार से निवेदन किया गया था

कि इन ग्रामीणों की वजह से कुछ विलुप्तप्रायः जीवों को खतरा है, इसलिए इन्हें विस्थापित किया जाए। लेकिन यह निवेदन केवल उस पुस्तिका में ही रह गया।

और ये गाँव बड़ी ही खूबसूरत जगह पर बसे थे। नदी किनारा तो था ही, सामने दाफाबुम भी नजर आती है और नेशनल पार्क के भीतर स्थित होना भी इन्हें विशिष्ट बनाता है। चकमा जनजाति के गाँव हैं ये।

जंगल में एक जगह लिखा था - मोती झील, 4.5 किलोमीटर। दाहिनी तरफ तीर का निशान बना था, लेकिन कोई रास्ता जाता नहीं दिखा। झीलें मुझे बड़ा आकर्षित करती हैं। इसने भी किया, लेकिन बिना गाइड के जाना ठीक नहीं।

एक छोटा-सा मंदिर दिखा। घोर जंगल में छोटा-सा, नन्हा-सा मंदिर। द्वार के ऊपर 'ॐ' लिखा था और शिवजी की तस्वीर थी। भीतर बाकी देवी-देवताओं की तस्वीरें थीं। रुककर प्रणाम करना तो बनता था।

एमपेन से चलने के 18 किलोमीटर बाद एक रास्ता नीचे उतरता दिखा और एक सीधे जाता हुआ। हमें बताया गया था कि नीचे उतर जाना है। नीचे वाला रास्ता देवान रेस्ट हाउस जाता है और सीधा रास्ता जाता है विजयनगर की ओर। मन तो था विजयनगर वाले रास्ते को आखिर तक देखने का, लेकिन देवान की तरफ ही चल दिए।

अब समय है आपको यह बताने का कि हम यहाँ नामदफा नेशनल पार्क में क्यों आए थे। हम एक खास मकसद से आए थे। पिछले साल गीताली जी ने मुझसे कहा था कि एक बार विजयनगर की यात्रा करके आओ। मैं सोच में पड़ गया कि गीताली अचानक कर्नाटक में हंपी अर्थात् प्राचीन विजयनगर साम्राज्य की यात्रा करने को क्यों कह रही हैं, लेकिन जल्द ही उन्होंने स्पष्ट कर दिया कि एक विजयनगर अरुणाचल में भी है।

अरुणाचल में विजयनगर?

ढूँढा। नहीं मिला।

फिर और ढूँढा। नहीं मिला।

फिर और ज्यादा ढूँढा। मिल गया।

ओ तेरी की! भारत में ऐसी भी कोई जगह है क्या! मैंने कभी ध्यान ही नहीं दिया था। अरुणाचल के एकदम पूरब में एक इलाका ऐसा है, जो उंगली की तरह म्यांमार के भीतर तक गया हुआ है। और दो-चार किलोमीटर नहीं, पूरे पचास किलोमीटर। यह पचास किलोमीटर लंबी और पंद्रह किलोमीटर चौड़ी पट्टी म्यांमार के भीतर तक घुसी हुई है। सैटेलाइट चित्र देखे तो इसके चारों ओर घना जंगल नजर आया। सड़क कोई नहीं।

“आना-जाना कैसे करते हैं ये लोग?”

गीताली ने बताया - “ज्यादातर पैदल। या फिर कभी-कभार आर्मी का हेलीकॉप्टर भी आता है।”

म्यांमार के मैदान वहाँ से ज्यादा नजदीक हैं। उन लोगों का आवागमन

निश्चित ही म्यांमार में भी होता होगा। 2500 मीटर ऊँचा चौकान दर्रा ही तो पार करना है और तारबंदी उधर है नहीं। भारत में नजदीकी शहर है मियाओ, जो विजयनगर से 150 किलोमीटर दूर है। सब पैदल। सबसे बड़ी बात कि इन 150 में से कम से कम 100 किलोमीटर का रास्ता नामदफा नेशनल पार्क से होकर जाता है। नेशनल पार्क मतलब जंगल। और अरुणाचल में जंगल का अर्थ होता है, वर्षावन वाला घना जंगल। ऐसा जंगल जिसमें आप दो घंटे निश्चल खड़े हो जाओ, तो चींटियाँ और जोकें आपका पूरा खून चूस जाएँगी और बेलें भी आप पर लिपटना शुरू कर देंगी। फिर जंगली जानवरों का भी उतना ही डर।

और गीताली मुझे वहाँ जाने को कह रही हैं?

“मेरी जानकारी में केवल आप ही वहाँ जा सकते हो।” हजारों फॉलोवर्स वाली गीताली ने मुझे झाड़ पर चढ़ा दिया।

मैं ट्रेकिंग जरूर करता हूँ, लेकिन मुझे तीन चीजों से डर लगता है - जंगल से, बर्फ से और बादलों की गड़गड़ाहट से। विजयनगर के रास्ते में बर्फ का कोई डर नहीं है। बारिश जरूर होगी, लेकिन गड़गड़ाहट का उतना डर नहीं है। यहाँ केवल जंगल का डर है।

“ठीक है। मैं जाऊँगा।” मैंने गीताली से वादा कर दिया।

लेकिन इतना तो समझदार हूँ ही कि एकदम सीधे विजयनगर ट्रेक पर नहीं जाने वाला। मेरा ट्रेकिंग का अनुभव पश्चिमी हिमालय का रहा है, अर्थात् उत्तराखंड, हिमाचल और जम्मू-कश्मीर का। जबकि यह पूर्वी हिमालय है। पूर्वी हिमालय में बारिश ज्यादा होती है और आबादी कम है। स्थानीय आबादी भी कम और यात्रियों की आबादी भी कम। इस वजह से घने जंगल हैं। पश्चिमी हिमालय में ट्रेकिंग में कुछ चुनौतियों का सामना जरूर करना पड़ता है, लेकिन पूर्वी हिमालय की चुनौतियाँ उनसे अलग होंगी। मैं कभी भी अरुणाचल नहीं आया था। मुझे नहीं पता था कि यहाँ ट्रेकिंग में किन चुनौतियों का सामना करना पड़ेगा। और विजयनगर जैसे बड़े ट्रेक से पहले इन चुनौतियों की थोड़ी-सी जानकारी और अनुभव हो जाना जरूरी था।

इसलिये हम नामदफा आए थे। इस बार तो हमें विजयनगर नहीं जाना है, लेकिन इस जंगल का भरपूर अनुभव लेकर हम वापस लौटेंगे और दो महीने बाद या दो साल बाद जब विजयनगर के लिये आएँगे, तो यात्रा का आनंद ही अलग होगा।

देबान का यह रेस्ट हाउस शानदार लोकेशन पर बना हुआ है। बाँस की कुछ ‘हट्स’ भी बनी हैं। हमें जो कमरा मिला, वो उतना अच्छा तो नहीं था, लेकिन फिर भी ठीक था। जाते ही चाय मिल गई। और नीचे नदी किनारे तक जाने की सीढ़ियाँ भी।

शाम का समय था, सूरज डूबने लगा था और हम दोनों बैठे थे नो-दिहिंग नदी के किनारे। एकदम पारदर्शी पानी। विजयनगर की तरफ से यह नदी आती है। नेशनल पार्क के अन्य हिस्सों से आने वाली भी कई नदियाँ इसमें मिलती हैं। ऐसे में

इतना पारदर्शी पानी विस्मित कर रहा था।

और दाफाबुम तो थी ही।

पहली बार हम किसी फोरेस्ट रेस्ट हाउस में रुक रहे थे। रसोई, गाइड और अन्य कई कामों के लिये यहाँ कई कर्मचारी थे। ज्यादातर लीशू थे। लीशू अर्थात् विजयनगर की तरफ के रहने वाले। एक-दो नेपाली भी थे और एक-दो अरुणाचल के अन्य हिस्सों में रहने वाले भी। यहाँ विजयनगर के बारे में खूब बातें हुईं। मेरे सामने स्वयं लीशू लोग थे, तो मैं क्यों उनसे सबकुछ न पूछता?

1 अप्रैल 1937 को बर्मा (वर्तमान म्यांमार) को भारत से अलग कर दिया गया और 4 जनवरी 1948 को उसे आजादी भी मिल गई, लेकिन अभी तक भारत और बर्मा के बीच कोई निश्चित सीमा-रेखा नहीं थी। कारण था, पहाड़ी भू-भाग और घने जंगल। लेकिन इसके बावजूद भी दूसरे विश्व-युद्ध के समय इन जंगलों में खूब चहल-पहल रही और ब्रिटिश व जापानी सेनाओं का टकराव भी हुआ। नेताजी सुभाष चंद्र बोस तो इन पहाड़ियों को पार करके बर्मा की तरफ से इंपाल तक आ गए थे।

लेकिन विश्व-युद्ध के बाद लंबे समय तक इधर कोई नहीं आया।

फिर 1962 में भारत और चीन की लड़ाई हुई और चीन ने अरुणाचल पर दावा ठोक दिया। अब भारत को आवश्यकता महसूस हुई कि बर्मा की सीमा को निर्धारित किया जाए। कुछ पुराने दस्तावेजों और आपसी समझ के बाद भारत और बर्मा ने सीमा निर्धारण कर लिया और सीमा पर हर थोड़ी-थोड़ी दूरी पर पिलर भी लगा दिए।

विश्व-युद्ध के दौरान इन जंगलों से जीवित बचे कुछ लोगों ने अपने संस्मरणों में बताया कि 'चौकान पास' के इधर नो-दिहिंग घाटी में उन्हें एक भी मनुष्य नहीं मिला। विजयनगर से बर्मा जाने का आसान रास्ता चौकान पास से होकर ही जाता है। लेकिन 1960 के दशक में जब सीमा निर्धारण हुआ और पिलर आदि लगाए गए तो भारतीय सैनिकों को यहाँ कई गाँव मिले। ये लीशू जनजाति के लोगों के गाँव थे। यह जनजाति मुख्यतः बर्मा में रहती है और कुछ संख्या में चीन में भी। तो भारत ने 'शरणार्थी' कहकर इन्हें नागरिकता नहीं दी। इन्हें इनके गाँवों से निष्कासित किया गया, तो ये कुछ नीचे आकर जंगलों में रहने लगे। शुरू में ये विजयनगर में रहते थे और बाद में ये जहाँ जंगलों में रहने लगे, उस स्थान का नाम रखा गया - गांधीग्राम। हालाँकि स्थानीय नाम तो कुछ और ही रहे होंगे। विजयनगर के इनके खाली गाँवों में भारतीय सेना से सेवानिवृत्त नेपाली सैनिकों को बसा दिया गया और उन्हें भारतीय नागरिकता भी दे दी गई। आज बड़ी तादाद में विजयनगर में नेपाली मूल के लोग रहते हैं। अब नामदफा नेशनल पार्क में हमें यह सारी कहानी सुनाने वालों में जो नेपाली थे, वे ये ही लोग थे।

फिर 1972 में नामदफा वाइल्डलाइफ सेंचुरी बनी, जिसे 1983 में नेशनल पार्क घोषित कर दिया गया। इसकी सीमा विजयनगर तक कर दी गई। अर्थात् विजयनगर के नीचे स्थित गांधीग्राम गाँव नेशनल पार्क के अंदर आ गया। इधर

रहने वाली लीशू जनजाति भी नेशनल पार्क में आ गई। अब पार्क प्रशासन ने इन्हें 'अतिक्रमणकारी' घोषित कर दिया और इन्हें हटाने के प्रयत्न होने लगे। पार्क प्रशासन और लीशू लोगों के बीच बड़े झगड़े हुए, जो आज तक भी जारी हैं।

आखिरकार 1990 के आसपास भारत ने इन्हें भारतीय नागरिकता दे दी। लेकिन नेशनल पार्क के रिकॉर्ड में ये अभी भी 'अतिक्रमणकारी' ही हैं।

“हम तो जी... जंगली 'ट्राइब्स' हैं। जंगलों में ही रहते आए हैं - जन्म से मृत्यु तक। और अब इन जंगलों से बाहर बैठे लोग हमें सिखा रहे हैं कि जंगल में कैसे रहना चाहिए। यह गलत बात है ना?”

इसका मतलब है कि अब तो विजयनगर जरूर जाना पड़ेगा।

“बहुत समय पहले विजयनगर तक सड़क बन गई थी और कुछ लोगों ने गाड़ियाँ भी खरीद ली थीं। लेकिन पहली ही बारिश में इतना भू-स्खलन हुआ कि वह सड़क गायब हो गई और आज तक उसकी मरम्मत नहीं हुई है। फिलहाल मियाओ से 50 किलोमीटर आगे तक सड़क है, बाकी 100 किलोमीटर हमें पैदल आना-जाना होता है। चार दिन लगते हैं।”

“रास्ते में खाने-पीने के लिए?”

“फोरेस्ट की 'हट्स' बनी हैं। ओढ़ने-बिछाने को ले जाना पड़ेगा और अपना राशन भी। इसके अलावा कुछ गाँव भी हैं।”

बाद में सड़क बना रहे ठेकेदार ने बताया कि मियाओ से 80 किलोमीटर आगे तक गाड़ी जा सकती है।

हमारा उद्देश्य विजयनगर जाने की सारी जानकारी लेना और इस माहौल में जीने की चुनौतियों को जानना था। और इस काम में हम मिनट-दर-मिनट आगे बढ़ते जा रहे थे।

रात में उड़ने वाली गिलहरी दिखी। मुझे नहीं दिखी, बाकी सभी को दिखी। सबने बताया कि अब वह उस डाली पर है और उधर दूसरी तरफ उसका घोंसला है। वह अपने घोंसले तक एक छलांग और लगाएगी। बड़ी देर तक टकटकी लगाए देखते रहे, लेकिन उसने छलांग नहीं लगाई।

उड़ने वाली गिलहरियाँ उड़ती नहीं हैं, बल्कि एक पेड़ से दूसरे पेड़ पर लंबी छलांगे लगाती हैं।

रसोइया छेत्री असम का रहने वाला था। उसने जो भोजन बनाया, उसके लिए बस एक ही शब्द काफी है - वाह!

12 नवंबर 2017

हमारे उठते ही चाय आ गई और एक फोरेस्ट गार्ड भी आ गया - “आज आप लोग कहाँ घूमने जाएँगे?”

“हमें तो इधर का कुछ भी नहीं पता।”

“उधर पाँच किलोमीटर आगे एक व्यू पॉइंट है। बाकी सभी लोग उधर ही जा रहे हैं।”

“उधर मतलब विजयनगर वाली सड़क की तरफ?”

“हाँ जी, हमें उस सड़क पर ही चलना होगा। बहुत तरह की चिड़ियाँ मिलेंगी और तमाम तरह की तितलियाँ भी।”

“फिलहाल उस तरफ जाने की इच्छा नहीं है। नदी के दूसरी तरफ भी कोई रास्ता है क्या?”

“हाँ जी, उधर हल्दीबाड़ी है।”

“तो हम उधर ही चलेंगे।”

पानी, बिस्कुट और कैमरे लेकर हम नदी की ओर चल दिए। एक मल्लाह भी साथ था। नाव इस तरफ ही बँधी थी। एकदम पारदर्शी पानी और उस पर नाव से नदी पार करने में आनंद आ गया।

पार करके गाइड ने मल्लाह को बोल दिया कि एक बजे इधर आ जाना हमें लेने। नदी का पाट बहुत चौड़ा है। ज्यादातर रेतीला। धूप तेज थी, लेकिन वातावरण में शीतलता थी। पाट से बाहर निकले तो लकड़ी की एक सीढ़ी मिली। इस पर चढ़े तो आगे जंगल में जाती पगडंडी दिखाई पड़ गई।

“तुम्हारा नाम क्या है?”

“किलिंग रीका।”

“अएँ? क्या?”

“किलिंग रीका।”

“बड़ा खतरनाक नाम है। रहने वाले कहाँ के हो?”

“जिरो का।”

“भोत बढ़िया। आपातानी हो?”

“हाँ जी।”

“भोत बढ़िया। हिंदू हो या क्रिश्चियन?”

“क्रिश्चियन।”

“भोत बढ़िया।”

रीका एकदम चुप रहने वाला इंसान था। आप उसके साथ घंटों रह सकते हो, लेकिन जब तक आप कुछ पूछेंगे नहीं, वह नहीं बोलेगा। वह हमारा गाइड था। हम उम्मीद कर रहे थे कि वह जंगल के बारे में, पक्षियों के बारे में, जानवरों के बारे में, उनके निशानों के बारे में कुछ हमें बताएगा। लेकिन वह चुप चलता जा रहा था। आँखें शून्य में झाँकती हुई-सी। शायद कोई बड़ी चिंता थी उसे। लेकिन फिलहाल हम उसकी इन चिंताओं के बारे में नहीं पूछने वाले थे और अगर पूछते भी, तो वह हमें नहीं बताने वाला था। कम से कम अभी तो नहीं बताने वाला था, जबकि हमें

और उसे मिले हुए बमुश्किल एक घंटा ही हुआ है।

हम जो-जो पूछते गए, रीका उत्तर देता गया।

“यह रास्ता हर अक्टूबर में हम लोग साफ करते हैं। अप्रैल से सितंबर तक बारिश होती है, तो कोई भी इधर नहीं आता। हम भी नहीं। तब यह रास्ता झाड़ियों और बाँसों से अट जाता है। अक्टूबर में इसे साफ करके पेट्रोलिंग के लिये खोलते हैं। पाँच किलोमीटर आगे हल्दीबाड़ी है, जहाँ हम जा रहे हैं। उससे इतना किलोमीटर आगे राजा ताल है, फिर रानी ताल है, फिर एक और ताल है। 15-20 किलोमीटर का यह रास्ता है। लेकिन आखिर तक जाने के लिए हमें राशन भी चाहिए और कपड़े भी।”

“नहीं, टाइगर का कोई डर नहीं है। भालू बहुत हैं, लेकिन वे आदमी से दूर ही रहते हैं। उन्हें पता चल जाता है कि आदमी आ रहा है तो वे रास्ता छोड़ देते हैं और आदमी को पता भी नहीं चलता। हाँ, हूलोक गिबबन जरूर हैं इस जंगल में। वे भी पेड़ों पर ही रहते हैं।”

अचानक दीप्ति ने रुकने को कहा। जूते उतारे तो जुराबों के अंदर से तीन जोंकें निकलीं। छोटी-छोटी जोंकें। रीका नमक साथ लाया था। तीनों जोंकों को हटा दिया। यह देखकर मुझे भी जुराब में चुभन-सी महसूस हुई। एक जोंक चिपकी हुई थी।

हल्दीबाड़ी में एक ‘हट’ बनी हुई थी। एकदम खाली हट। जंगल वालों ने ही बना रखी थी। फोरेस्ट गार्ड या कोई भी यहाँ रुक सकता था। बाँस की बनी थी, जमीन से ऊपर। नीचे आग जलाने का स्थान था। धुआँ ऊपर एकमात्र कमरे में भर जाता है, जिससे मच्छर नहीं आते। अन्यथा मच्छरदानी लगानी पड़ती है। कमरे में जोंकें नहीं आतीं।

यहाँ मैंने जूते खोले, तो एक में तीन और दूसरे में चार जोंकें मिलीं। इन्होंने कुछ खून भी पी लिया था, जिसका मुझे पता नहीं चला। लेकिन सभी चमड़े के इन ‘सेफ्टी शूज’ की रगड़ से अपने आप ही मर गईं।

हम रास्ते में कहीं भी नहीं रुके थे, लगातार चलते आ रहे थे। इसके बावजूद भी जोंकें हमारे ऊपर चढ़ गईं। यह अरुणाचल के जंगलों में यात्रा करने का सबसे बड़ा नकारात्मक पहलू है। जंगल जोंकों से भरे हुए हैं। एक भी जोंक आपके जूते पर चिपक गई तो यह बड़ी तेजी से ऊपर चढ़ती है। और जहाँ भी इसे जगह मिलती है, यह कपड़ों के भीतर घुस जाती है। जुराबों के रेशों के बीच घुस जाना तो इसके लिए बाएँ हाथ का काम है। कोई छोटी जोंक तो आपकी पैंट के रेशों के भी आर-पार हो सकती है।

इस स्थान का नाम हल्दीबाड़ी इसलिए है क्योंकि यहाँ हल्दी उगती है। रीका ने हल्दी खोदकर भी दिखाई।

इन जंगलों में पैदल यात्रा करने का हमारा एक अनुभव पूरा हो चुका था, लेकिन अभी भी एक अनुभव बाकी था। वापस लौट रहे थे तो हूलोक गिबबनों ने

जंगल को अपनी 'हुक्कू-हुक्कू' से गुंजायमान कर रखा था। हमने पहली बार गिबबन देखे थे। इनकी इस पेड़ से उस पेड़ और एक डाली से दूसरी डाली पर धमाचौकड़ी बड़ी प्रभावशाली थी। अपने हाथों का ज्यादा इस्तेमाल करते हैं ये और ज्यादातर समय हाथों पर ही लटके रहते हैं।

गिबबन के बाद एक बंदर और दिखा। बल्कि रीका ने चुप रहने और धीरे से इशारा करने के बाद दिखाया। छोटा-सा बंदर था। 'मकाक' नाम बताया। लेकिन 'मकाक' तो शायद उत्तर भारत में पाए जाने वाले आम बंदरों को भी कहा जाता है। जो भी हो, हम इसे देखकर भी खुश हो गए।

और होर्नबिल के बिना तो नामदफा की यात्रा अधूरी है। अरुणाचल का राजकीय पक्षी है यह। ऊँचे पेड़ों पर इनके झुंड के झुंड बैठे रहते हैं। जरा-सी आहट मिलते ही पंखों से आवाज करते हुए उड़ जाते हैं। हमने यह आवाज बहुत सुनी; दूर बैठे होर्नबिल देखे भी; लेकिन फोटो नहीं ले पाए।



नदी किनारे पहुँचकर रीका ने मल्लाह को आवाज लगाई। पार करने के बाद रेस्ट हाउस में छेत्री का बनाया शानदार स्वादिष्ट लंच हमारी प्रतीक्षा कर रहा था।

मणिपुर से कुछ लोग नामदफा घूमने आए थे। उनकी मणिपुर नंबर की गाड़ी भी खड़ी थी। लेकिन वे कमरों से बाहर आते, तो हम अंदर होते और हम बाहर आते, तो वे अंदर होते। बात नहीं हो पाई। वैसे भी मैं बातचीत करने में कंजूस हूँ।

लेकिन आज विजयनगर के बारे में बात करने में कोई कंजूसी नहीं की। जो भी सामने आता, मैं विजयनगर का जिक्र छेड़ देता। भूल जाता कि अभी घंटे-भर पहले ही तो इससे ढेर सारी बातें की थीं। चाहे वो रसोइया हो, फोरेस्ट गार्ड हो, सोलर पैनल लगाने वाले मजदूर हों या विजयनगर रोड़ का निर्माण करने वाले लोग। एक तो रुद्रपुर का मिल गया। रोड़ कंस्ट्रक्शन कंपनी में ड्राइवर था। उसी ने बताया कि मियाओ से अस्सी किलोमीटर तक फिलहाल गाड़ी लायक रास्ता बना है।

और इतनी सारी बातचीत का नतीजा हुआ कि अब विजयनगर उतना मुश्किल नहीं लग रहा। हर पाँच-पाँच, दस-दस किलोमीटर पर फोरेस्ट हट्स बनी हैं। यानी टेंट लाने की आवश्यकता नहीं। स्लीपिंग बैग और मच्छरदानी लाने पड़ेंगे। रास्ते में कुछ घर-गाँव भी पड़ते हैं। भोजन की भी उतनी समस्या नहीं आने वाली। फिर भी

थोड़ा-बहुत भोजन साथ रखना पड़ेगा ही। यानी एक पॉर्टर साथ रखना काफी होगा। मियाओ में पचास हजार रुपये देकर पूरा 'पैकेज' लेने की जरूरत नहीं।

हमारा काम हो गया था। साथ में नामदफा नेशनल पार्क भी देख लिया - सोने पे सुहागा।



4. पूर्वी अरुणाचल में

13 नवंबर 2017

गूगल मैप में नो-दिहिंग नदी के उस तरफ एक सड़क दिख रही थी। पूछताछ से पता चला कि वहाँ सड़क है, लेकिन घना जंगल भी है। हमें अब परशुराम कुंड जाना था और वह सड़क इस समय सर्वोत्तम थी। यहाँ से उसकी सीधी दूरी बमुश्किल एक किलोमीटर थी। लेकिन देवान रेस्ट हाउस नदी से तकरीबन पचास मीटर ऊपर किनारे पर स्थित है। और किनारा एकदम खड़ा है। नीचे उतरने के लिये ऊँची-ऊँची सीढ़ियाँ बनी हैं। किसी भी हालत में मोटरसाइकिल नीचे नदी तक नहीं उतर सकती थी। अगर यह नदी तक उतर भी जाती, तो हम नाव से इसे उस पार पहुँचा देते। फिर दूसरे किनारे पर ऊपर चढ़ाने में उससे भी ज्यादा समस्या आती।

अच्छा, हम क्यों ऐसा करना चाह रहे थे? क्योंकि नदी के उस पार से परशुराम कुंड केवल 65 किलोमीटर दूर था। लेकिन अगर मियाओ, बोरदुमसा से होकर जाते हैं, तो यह 180 किलोमीटर होगा। सलाह मिली कि मियाओ में नावघाट से नदी पार हो जाएगी और आप इसी सड़क पर आ सकते हो। यानी 25 किलोमीटर नदी के इस तरफ मियाओ जाना और फिर पार करके उतना ही दूसरी तरफ आना - कुल मिलाकर 50 किलोमीटर होगा। और यह सारा रास्ता खराब ही है। इससे लाख गुना अच्छा होता कि बाइक किसी तरह यहीं से नदी पार कर लेती। एक किलोमीटर में ही काम हो जाता।

लेकिन ऐसा नहीं हो सका। हमें मियाओ ही जाना पड़ा। 25 किलोमीटर तय करने में दो घंटे लगे।

जब नेशनल पार्क के भीतर बसे चकमा लोगों के गाँवों से होकर गुजरे तो एक साइकिल वाला मियाओ की ओर दूध ले जाता मिला। शकल देखी तो यह निश्चित ही पूर्वोत्तर का नहीं था, बल्कि उत्तर भारतीय था। बातचीत हुई। नाम तो मैं भूल गया, लेकिन ये बिहारी थे। इनके पिताजी ही किसी समय बिहार छोड़कर यहाँ आ बसे थे। अब ये वही काम कर रहे हैं। इन गाँवों से दूध इकट्ठा करके मियाओ भेजते हैं।

“अपना घर तो नहीं होगा आपका, क्योंकि अरुणाचल में कोई बाहरी आदमी घर, जमीन नहीं खरीद सकता।”

“जी नहीं, पिताजी भी किराये पर ही रहते थे और मैं भी किराये पर रहता हूँ।”

“स्थानीय लोग परेशान नहीं करते?”

“क्यों परेशान करेंगे?”

“बाहरी होने के कारण।”

“कभी-कभार हो जाता है, लेकिन मैं जन्म से यहीं रहता हूँ, तो इनकी भाषा भी जानता हूँ और व्यवहार भी। वैसे भी स्वयं चकमा स्थानीय नहीं हैं।”

“मतलब?”

“ये लोग बांग्लादेशी हिंदू और बौद्ध हैं। जब बांग्लादेश नहीं बना था, तो पाकिस्तान की धर्मांध कट्टरता के कारण इन्हें बांग्लादेश छोड़ना पड़ा। उसी दौरान मेरे पिताजी भी इधर ही थे। सरकार ने इन्हें जमीन आवंटित कर दी। बस, तब से ये लोग यहाँ रहते हैं। बहुतों के पास तो अभी भी भारतीय नागरिकता तक नहीं है।”

मैं सोच में पड़ गया। उधर नेशनल पार्क प्रशासन इन चकमाओं को ‘अतिक्रमणकारी’ घोषित कर चुका है और इस कोशिश में है कि ये पार्क से बाहर चले जाएँ। फिर कोई बाहरी ताकत आएगी, इनके कान भरेगी और ये ‘नक्सली’ बन जाएँगे।

विस्थापन हो जाता है और पुनर्वास होता नहीं।

मियाओ चिड़ियाघर में अभी तक टिकट काउंटर नहीं खुला था। हमें कह दिया गया - फ्री में देख लो। यहाँ हूलोक गिबबन ने आसमान सिर पर उठा रखा था। और भी दो-चार छोटे-छोटे जानवर थे, लेकिन सब चुप थे। गिबबन अपने बाड़े में पर्यटकों को देख-देखकर खूब ‘हुक्कू-हुक्कू’ करते रहे।

अगले पहिये में हवा कम थी। भरवाई तो पता चला, पंचर है।

“कितने पैसे लेंगे?”

“ट्यूबलेस है? सौ रुपये लेंगे।”

“रहने दो।”

हमारे पास ट्यूबलेस पहिये की पंचर किट थी। किट निकाली और तीन-चार मिनट में ही पंचर लगा दिया। दस रुपये हवा भरने के लगे।

“देखा? नब्बे रुपये बच गए हमारे।” हमने पंचर वाले से ही कहा। वह मुस्करा दिया।

“नावघाट का रास्ता कहाँ से है?”

“आगे से बाएँ।”

हम आगे बढ़े। बाएँ मुड़ गए।

“यह नावघाट का ही रास्ता है क्या?”

“हाँ जी।”

सीधे ही चलते रहे। रास्ता अपने आप फिर बाएँ मुड़ गया। कुछ सीधा चलने के बाद फिर बाएँ मुड़ा और हम उसी जगह आ पहुँचे, जहाँ सबसे पहले रास्ता पूछा था।

फिर से पूछना पड़ा - “नावघाट का रास्ता?”

“आगे से बाएँ।”

फिर से वहीं पहुँचे - “नावघाट का रास्ता?”

“हाँ जी, यही है।”

“सीधे ही जाना है क्या?”

“नहीं, स्कूल की बगल से दाहिने मुड़ना है।”

तो यह पेंच था। स्कूल की बगल से दाहिने मुड़ गए। रास्ता नीचे उतरा और हम नो-दिहिंग की रेत में पहुँच गए। बड़ी दूर तक रेत में चलना पड़ा। सामने नदी बह रही थी और एक नाव खड़ी थी और उसमें एक मोटरसाइकिल चढ़ाई जा रही थी।



बड़ी संकरी नाव थी यह। बमुश्किल मोटरसाइकिल पकड़े खड़े रहना पड़ा। पार हुए।

“कितने पैसे हुए?”

“पैसे आगे देने हैं।”

आगे दूर तक नदी की रेत दिख रही थी। मैंने सोचा कि आगे कहीं गेट होगा और वहाँ नाववालों का कार्यालय होगा। लेकिन तकरीबन आधा किलोमीटर बाद फिर से इसी नदी की जलधारा मिली। फिर से एक नाव थी और उस पार उतारकर इस नाव वाले ने कहा - “दो सौ रुपये।”

इतने पैसे निश्चित ही ज्यादा थे। बहुत ही ज्यादा थे। फिर भी जो रोमांच आया, उसके आगे कुछ भी नहीं।

“हमें परशुराम कुंड जाना है।”

“तो नामसाई से जाओ।”

“इधर दाहिनी तरफ से क्यों न जाएँ?”

“इधर से जाना ठीक नहीं है। पूरा रास्ता जंगल का है। कोई भी आता-जाता नहीं। नामसाई में आपको हाईवे भी मिल जाएगा।”

आगे भी रेत में मोटरसाइकिलों की लीक बनी थी। हम भी चल दिए। दो किलोमीटर चलने के बाद एक पुल मिला। यह वही सड़क थी, जो दाहिने देवान के उस पार से होकर गुजरती है। और बाएँ जा रही थी नामसाई। हम दाहिने मुड़ गए। जंगल से ही चलते हैं।

आगे एक तिराहा था। जंगल भी और रास्ता बताने वाला कोई नहीं। नेटवर्क नहीं था और गूगल मैप से भी सही रास्ते का पता नहीं चला। हमें इतना तो पता

था कि 25 किलोमीटर आगे देवान के सामने तक रास्ता नो-दिहिंग नदी के किनारे-किनारे ही है। इसलिये नीचे नदी की तरफ जाते रास्ते पर हो लिए। थोड़ा ही आगे एक गाँव मिला। पक्की सड़क थी, हम चलते रहे। लेकिन गाँव से निकलते ही यह टूटी-फूटी सड़क में बदल गई। आधा किलोमीटर बाद यह भी समाप्त हो गई और अब बची केवल एक पगडंडी। फिर भी हम चलते रहे। दिशा हमारी ठीक थी।

और आखिरकार पगडंडी भी समाप्त हो गई और आगे कुछ भी नहीं। केवल जंगल और झाड़ियाँ।

वापस मुड़ना पड़ा। उस गाँव में पहुँचकर फिर रास्ता पूछा।

“नामसाई से ही जाओ। वैसे तो उस तिराहे से दूसरी सड़क भी परशुराम कुंड ही जाती है; छोटा रास्ता भी है; परंतु वह पूरा जंगल वाला रास्ता है।”

लेकिन मुझे यह पसंद नहीं था। जब तक नामसाई पहुँचेंगे, तब तक तो इस जंगल वाले रास्ते से वाकरू पहुँच जाएँगे। इस बार तिराहे से दूसरी सड़क पकड़ ली। नामसाई की ओर अब भी नहीं चले।

जंगल वाकई घना था। पक्की सड़क पर केवल दो पगडंडियाँ बनी थीं। बीच में भी घास उगी हुई थी। दोनों तरफ भी इतनी घनी झाड़ियाँ थीं कि शरीर से टकरा रही थीं। बाँस भी बहुतायत में था। तभी अचानक झाड़ियों से कोई बाँस या लकड़ी बाइक के पहियों पर टकराई और बाइक एक फुट उछल गई। बड़े जोर का झटका लगा। गनीमत रही कि गिरे नहीं।

अब जाकर अकल आई। कोई अदृश्य शक्ति अवश्य चाह रही थी कि हम इस रास्ते न जाएँ। नाववाले का मना करना; रास्ता भटककर उस गाँव में पहुँचना ताकि हमें स्थानीय ग्रामीण बता सकें कि इधर से जाना ठीक नहीं। और फिर भी हम नहीं माने तो अब रास्ते में पड़ी लकड़ी का इस तरह टकराना। ये संकेत हैं कि इधर से जाने की जिद छोड़ देनी चाहिए। अभी तो जंगल शुरू ही हुआ था।

वापस मुड़ गए। यह रास्ता सीधा नामसाई जाता है। खराब रास्ता है, बहुत खराब है। कहीं-कहीं जंगल भी है, लेकिन ज्यादातर खेत और गाँव मिलते रहते हैं। लोगों का आना-जाना भी लगा रहता है।

भूख लग रही थी। खराब सड़क पर चलते हुए थक भी गए थे। चाय मिल जाए तो आनंद आ जाए। कुछ ही देर पहले हमने ऊपर वाले की बात मानी थी, अब उसने हमारी बात मान ली। एक गाँव में एक छोटी-सी दुकान मिल गई।

“इस गाँव का क्या नाम है?”

“मइत्रीपुर।”

एक बोर्ड पर देवनागरी में लिखा था - मैत्रीपुर।

अंडों के पकौड़े भी थे। उबले अंडे को आधा काटकर उसे आलू में लपेटकर और बेसन में भिगोकर पकौड़े बना दिए थे। थे तो सुबह के, लेकिन आनंद आ गया।

बाद में एक मित्र ने बताया कि मियाओ से नामसाई का यह इलाका ठीक नहीं

है। यह ज्यादातर चांगलांग जिले में आता है और अरुणाचल का यह जिला नागालैंड के नजदीक है और काफी अशांत माना जाता है।

फिर भी अंडों के पकौड़े खाते हुए और चाय पीते हुए हम किसी भी तरह से डर नहीं रहे थे। हम इंसानों के बीच थे और एक इंसान दूसरे इंसान से क्यों डरेगा भला! अगर हम यहाँ रात रुकना चाहते, तो दुकान की मालकिन इसका भी इंतजाम कर देती।

मुझे यात्राओं में सामने वाले से बातचीत करने से ज्यादा पसंद है, उस माहौल को देखना और तमाम तरह की कल्पनाएँ करते रहना। कभी मैं प्रधानमंत्री बनने की कल्पना करता और इन लोगों का जीवन-स्तर सुधारने की भी कल्पना करता। फिर सोचता कि मैंने यह कैसे मान लिया कि इनका जीवन-स्तर बिगड़ा हुआ है और सुधारने की आवश्यकता है। नहीं, हमें अपना स्वयं का जीवन-स्तर सुधारना होगा। हमने स्वयं ताकतवर बनकर इन लोगों को दुख पहुँचाया है। वाइल्डलाइफ सेंचुरी बनाने से, नेशनल पार्क बनाने से, बांध बनाने से, सड़क बनाने से; इन लोगों पर ही मार पड़ती है। पहले इनके गाँवों तक एक पतली-सी सड़क आती है। सभी लोग जश्न मनाते हैं। फिर धीरे-धीरे वह सड़क अपना शरीर बढ़ाती है और चौड़ी होती जाती है और इन लोगों के घर भी निगलती जाती है।

विस्थापन हो जाता है और पुनर्वास होता नहीं।

और हम सोचते हैं कि हमने अच्छा काम किया है। तो अगर मैं प्रधानमंत्री बन गया तो इन वनवासियों को नेशनल पार्क के भीतर ही रहने देने का नियम बनाऊँगा।

चाय-पकौड़े खाते हुए ऐसे ही विचार मन में चल रहे थे। दूर-दराज इलाकों में चाय-पकौड़े आपको स्थानीय लोगों से जोड़े रखते हैं। आप उनसे बातचीत करें, तब भी; और अगर बातचीत न करें, तब भी।

मैत्रीपुर से नामसाई 45 किलोमीटर दूर है और इसे तय करने में ढाई घंटे लग गए। वास्तव में बहुत खराब सड़क है। नामसाई में जब नेशनल हाईवे दिखा, तो जान में जान आई।

अभी साढ़े तीन बजे थे। घंटे-भर का उजाला और शेष था। परशुराम कुंड अभी भी 70-80 किलोमीटर बाकी था। कम से कम दो घंटे। अंधेरा हो जाएगा। अनजान जगह पर अंधेरे में बाइक नहीं चलानी। तो आज नामसाई ही रुकते हैं।

कुछ दिन पहले जब हम दिल्ली में थे और फेसबुक पर इस यात्रा की चर्चा कर रहे थे तो नामसाई के रहने वाले एक मित्र ने अपना मोबाइल नंबर दिया था। अब उस मित्र का नाम भी भूल गया और मोबाइल नंबर सेव नहीं किया था। बड़ी याद आई उनकी। आज नामसाई में उनके यहाँ आराम से रुकते।

नामसाई अरुणाचल के नवीनतम जिलों में से एक है। शहर हाईवे से कुछ हटकर है। शहर में चल दिए।

एक होटल - “कमरा 800 रुपये।”

“नहीं लेना। 500 से कम ही कम में लेना है।”

दूसरा होटल - “सभी कमरे भरे हैं।”

“क्या? नामसाई में कौन रुकता है भला?”

और तीसरा होटल कोई दिखा नहीं। शहर पार हो गया। आवाजाही कम हो गई। तो क्या 800 वाले में ही जाना होगा? तभी अचानक याद आया कि जागुन में गड़वाल साहब ने बताया था कि अरुणाचल में होटल नहीं मिलेंगे, लेकिन हर जगह आई.बी. मिल जाएँगे, यानी इंस्पेक्शन बंगले। तो यहाँ नामसाई में एक रिक्शा वाले से पूछा - “भाई, आई.बी. कहाँ है?”

“कौन-सा आई.बी.?”

“कौन-सा मतलब?”

“मतलब यहाँ दो आई.बी. हैं - एक तो फोरेस्ट का और दूसरा पी.डब्लू.डी. का।”

“फोरेस्ट का।”

“उधर है।”

आई.बी. में पहुँचे। बहुत बड़ा बंगला था। पता चला कि डी.एफ.ओ. कार्यालय में इसकी बुकिंग होगी।

दो किलोमीटर दूर डी.एफ.ओ. कार्यालय पहुँचे। और ऐसा लगा जैसे सभी लोग यहाँ हमारे लिए ही बैठे हों। मोटरसाइकिल पर तो ‘दिल्ली’ लिखा ही था, हमारे चेहरों पर भी ‘उत्तर भारतीय’ लिखा था। जितना अपमान हम दिल्ली में पूर्वोत्तर वालों का करते हैं, हमें यहाँ उससे बहुत ज्यादा सम्मान मिला। एक एप्लीकेशन लिख दी। फटाफट काम होता गया और आधे घंटे के अंदर परमिशन हमारे हाथ में। एक भी पैसा नहीं लगा।

“आपको जो भी पैसे देने हैं, आई.बी. पर ही देने होंगे और उसकी रसीद अवश्य लेना। अगर चौकीदार रसीद न दे, तो माँगना उससे। खाना भी वही बना देगा, उसके पैसे अलग से लेंगे।”

और जो कमरा मिला, उसने तो हमारे होश उड़ा दिए। बहुत बड़ा और सजावटी कमरा था। इसके साथ ही एक और कमरा भी अटैच था, जिसमें अलमारियाँ रखी थीं। बाथरूम भी पूरा कमरे जितना बड़ा। बहुत बड़ी बालकनी, जिसमें महंगी कुर्सी-मेजें रखी थीं। जितना बड़ा दिल्ली में हमारा टू-बी.एच.के. है, उससे बड़ा यह था। हमारे होश इसलिए उड़े कि हमें अभी तक भी इसका किराया नहीं पता था।

“लगता है कि उन्होंने हमें बहुत बड़ा वी.आई.पी. समझ लिया है और वी.आई.पी. कमरा ही हमें दिया है।”

“हाँ, ऐसा ही लगता है। कितना किराया है इसका?”

“यही तो समस्या है। इसका किराया ही तो नहीं पता। उन्होंने एप्लीकेशन

लिखने को कहा, मैंने लिख दी और उन्होंने कमरा दे दिया।”

“अगर 800 से ज्यादा हुआ तो?”

“अब तो भगवान ही मालिक है। किराया दो हजार से कम नहीं होगा। अगर ढाई हजार भी होगा, तो सुबह चुपचाप दे देंगे। आज तो फँस गए। इससे अच्छा तो वो 800 वाला कमरा ही ले लेते। फिलहाल एक काम करते हैं। खाना बाहर बाजार में खा आते हैं। सस्ता पड़ेगा।”

“हाँ, चलो।”

और सुबह जब चौकीदार ने 500 रुपये की रसीद काटकर थमाई, तो एकबारगी यह 5000 रुपये की लगी।

14 नवंबर 2017

आज का लक्ष्य था परशुराम कुंड देखकर शाम तक तेजू पहुँचना और रात तेजू रुकना। रास्ते में कामलांग वाइल्डलाइफ सेंचुरी है। थोड़ा-बहुत सेंचुरी में घूमेंगे और ‘ग्लाओ लेक’ जाने के बारे में जानकारी हासिल करेंगे। अभी तक मुझे आलूबारी पुल के खुलने की जानकारी नहीं हुई थी। बल्कि मुझे कुछ पता ही नहीं था कि लोहित नदी पर आलूबारी पुल बनाने जैसा भी कोई काम चल रहा है। मैं सोचा करता था कि तिनसुकिया से तेजू जाने के लिए प्रत्येक गाड़ी को नामसाई, वाकरू, परशुराम कुंड होते हुए ही जाना पड़ेगा। कुछ समय पहले 9 किलोमीटर लंबा धोला-सदिया पुल खुला, तो तेजू की गाड़ियाँ उधर से जाने लगी होंगी - ऐसा मैंने सोचा।

नामसाई से आगे एक जगह दूरियाँ लिखी थीं - चौखाम 26 किलोमीटर, परशुराम कुंड 82 किलोमीटर और तेजू 126 किलोमीटर। यानी चौखाम से तेजू 100 किलोमीटर है, लेकिन आलूबारी पुल बनने से पहले। अब यह दूरी केवल 30 किलोमीटर रह गई है। लेकिन हमें तो इस पुल का पता ही नहीं था।

शानदार सड़क थी और हम 70-80 की स्पीड से दौड़े जा रहे थे। ध्यान था कि वाकरू में कामलांग सेंचुरी के पास एक पुल पार करना है। एक जगह एक बोर्ड लगा था - कामलांग सेंचुरी दाहिने। मैं समझा कि वाकरू आने वाला है और अब हम वाकरू पुल पार करेंगे। दीप्ति से कहा - “अब हम एक पुल पार करेंगे और थोड़ा विश्राम भी करेंगे।”

नदी आई और ढाई-तीन किलोमीटर लंबा पुल देखकर मैं हैरान रह गया - “इतना लंबा पुल नहीं होना चाहिए था। नक्शा देखना पड़ेगा।”

जी.पी.एस. ऑन करके गूगल मैप में देखा, तो मैं चिल्ला उठा - “ओये, यह तो लोहित है। यहाँ पुल कब बना?” बाद में पता चला कि इसी साल (2017 में) जनवरी में पुल बनकर तैयार हुआ।

लेकिन वाकरू कहाँ गया? देखा कि चौखाम में जहाँ लिखा था - “कामलांग

दाहिने” - वही सड़क वाकरू जा रही थी। यह नई सड़क बनी है, चौड़ी है; तो हम चौखाम से सीधे इसी पर चलते रहे, अन्यथा दाहिने मुड़कर वाकरू होते हुए ही जाना पड़ता।

लेकिन अब तो सारी योजना ही बदल गई। आज शाम तक हमें तेजू पहुँचना था, लेकिन अब तो घंटे भर में ही पहुँच जाएँगे। तेजू में नाश्ता करेंगे और वहीं बैठकर आगे के बारे में सोचेंगे।

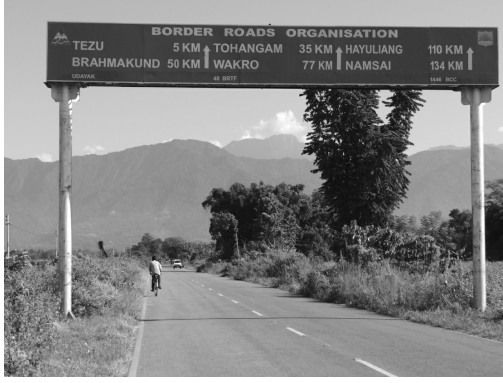
और लोहित के बारे में जितना लिखूँ, उतना कम। हमने इसे पार करने में एक घंटा लगा दिया। मन ही नहीं भरा। न देखते रहने से और न फोटो खींचने से। एकदम साफ नीला पानी। पानी के नीचे जहाँ रेत थी, वो भी दिख रही थी और जहाँ पत्थर थे, वे भी दिख रहे थे। हम सोच रहे थे कि नदी में कोई नाव भी होनी चाहिए। पारदर्शी पानी पर चलती नाव बड़ी अच्छी लगती।

लेकिन आप एक घंटे तक इस पुल पर खड़े रहें और कोई नाव न गुजरे; ऐसा नहीं हो सकता। एक नाव आई, दो मल्लाह इसे खे रहे थे और मछलियाँ पकड़ने को जाल फैला रहे थे। हम लपककर उनके ऊपर जा पहुँचे। अद्भुत दृश्य था! लोहित के पारदर्शी पानी में एक नाव! एकटक देखता रहा। दीप्ति की आवाज आई - “फोटो भी लेना है इनका।”

दूर तक फैली लोहित में एक छोटी-सी नाव! अच्छे फोटो आए। कम से कम मुझे तो बड़े अच्छे लगे।

बाद में मनोज जोशी ने बताया - “आलूबारी पुल बनने से पहले आलूबारी घाट से फेरी चलती थी। बस तिनसुकिया से आती थी, यात्री फेरी में बैठकर लोहित पार करते थे और उधर उन्हें तेजू की गाड़ी मिलती थी। जब कभी मानसून में नदी में बाढ़ आती थी और इसे पार करना संभव नहीं होता था तो बसें वाकरू और परशुराम कुंड होते हुए तेजू जाती थीं।”

कितनी अनोखी बात है कि कुछ ही देर पहले समीकरण थे कि हमें पहले परशुराम कुंड जाना है और उसके बाद तेजू। लेकिन अब सब उलट-पुलट हो गया। अब हम तेजू पहुँचने ही वाले हैं और उसके बाद कहीं परशुराम कुंड आएगा। एक पुल ने कितना कुछ बदल दिया! अब दूरियाँ लिखी थीं - तेजू 5 किलोमीटर, परशुराम कुंड 50 किलोमीटर, वाकरू 77 किलोमीटर और नामसाई 134 किलोमीटर। ये सब वही पुरानी दूरियाँ थीं - पुल बनने से पहले की। हमें आगे तक भी इसी तरह दूरियाँ लिखी मिलीं। अभी तक किसी ने भी सड़क पर लिखी दूरियों को अपडेट नहीं किया है।



तेजू पहुँचे। यह लोहित जिले का मुख्यालय है। अच्छा बड़ा शहर है। खाने-पीने की यहाँ कोई समस्या नहीं। नेट चला तो फेसबुक भी चल गया और नामसाई के रहने वाले मित्र मनोज जोशी का फोन नंबर भी मिल गया। उन्होंने बताया कि वे असल में नामसाई में नहीं रहते, बल्कि चौखाम और वाकरू के बीच में स्थित मेदू गाँव में रहते हैं। अपना मकान है और पूरा परिवार वहीं रहता है। मूल रूप से राजस्थान के हैं। यह सुनकर मुझे बड़ी जिज्ञासा हुई उनके बारे में और जानने की और उनसे मिलने की। लेकिन सारी बातें फोन पर तो नहीं हो सकतीं।

“अच्छा मनोज भाई, अभी हमारे हाथ में कुछ दिन और हैं और अब हम वालोंग और किबिथू तक जाने के बारे में विचार करने लगे हैं। अभी तक तो अच्छी सड़क मिली है। बस, इतना बता दो कि वालोंग तक भी अच्छी सड़क है क्या?”

“नहीं। अच्छी सड़क केवल तेजू से दस किलोमीटर आगे तक है। उसके बाद खराब सड़क है। तेजू से वालोंग 200 किलोमीटर दूर है। आज आप हायुलियांग तक पहुँच सकते हैं। कल वालोंग पहुँच जाओगे।”

आलू की सब्जी, गाजर का अचार और तवे से उतरती गर्मागरम रोटियाँ। उत्तर भारतीयों का जलवा है सब। ऐसा नहीं है कि उत्तर भारतीय ही रोटियाँ खाते हैं। स्थानीय लोग भी यहाँ बड़े चाव से इन्हें खा रहे थे। सबने सबको स्वीकार कर लिया है।

रोटियों के स्वाद में वालोंग कहीं दब गया था। बाद में पानी पीकर जो डकार ली, वालोंग फिर निकलकर आ गया। रेस्टोरेंट वाले से ही पूछ लिया - “रास्ता कैसा है?”

“खराब है।”

“कितने पैसे हुए?”

“कितनी रोटियाँ खाई आपने?”

“पता नहीं।”

“चालीस रुपये दे दो।”

“दो थालियाँ थीं।”

“तभी तो चालीस हुए।”

भुगतान करने के बाद दीप्ति ने आदतन पूछा - “कितने पैसे लिए?”

“चालीस रुपये।”

“क्या! केवल चालीस रुपये? चल, और खाकर आते हैं।”

“रखेंगे कहाँ?”

अब आगे की योजना आकार लेने लगी - “आज वहाँ पहुँचेंगे, कल वालोंग। फिर वालोंग से गुवाहाटी लौटने में भी कम से कम तीन दिन लगेंगे। यानी कुल पाँच दिन। लेकिन हमारे पास हैं केवल चार दिन। तो वालोंग जाना ठीक नहीं। फिलहाल परशुराम कुंड चलते हैं। फिर वाकरू होते हुए मेदू में मनोज के यहाँ धूनी रमाएँगे।”

तेजू से निकलकर कुछ दूर रास्ता समतल है, फिर पहाड़ पर चढ़ता है और फिर एक तिराहा है। बाएँ वालोंग और दाहिने परशुराम कुंड। हम दाहिने चल दिए। चलते ही उतराई है और हम उतरते-उतरते लोहित किनारे पहुँच जाते हैं। इस पूरे रास्ते से लोहित का शानदार और विहंगम दृश्य दिखता रहता है।

और लोहित के उस पार दूर तक फैला हुआ जंगल और उसमें दूर-दूर स्थित गाँव।

परशुराम कुंड की जो भी धार्मिक कहानियाँ हों, हम उनका जिक्र नहीं करेंगे। लेकिन यह स्थान बड़ा विशिष्ट है। जो संबंध गंगा और ऋषिकेश में है, ठीक वही संबंध लोहित और परशुराम कुंड में है। इस स्थान पर लोहित नदी पहाड़ छोड़कर मैदान में प्रविष्ट होती है। वैसे लोहित को कई बार ब्रह्मपुत्र भी कह दिया जाता है, लेकिन असल में यह ब्रह्मपुत्र नहीं है, बल्कि इसकी एक सहायक नदी है। आती तो यह भी तिब्बत से ही है, लेकिन मानसरोवर के पास से आती ब्रह्मपुत्र में यह सदिया के पास मिलती है। सदिया में इसके अलावा दिबांग नदी भी ब्रह्मपुत्र में मिलती है। ब्रह्मपुत्र को अरुणाचल में सियांग कहते हैं। या यँ भी कहा जा सकता है कि सियांग, दिबांग और लोहित के मिलने के बाद इनकी संयुक्त धारा ब्रह्मपुत्र कहलाती है। लेकिन आम जनमानस उस धारा को ही ब्रह्मपुत्र मानता है, जो मानसरोवर से आती है अर्थात् सियांग।

तो लोहित ब्रह्मपुत्र नहीं है।

मैं भले ही पहली बार अरुणाचल आया हूँ, लेकिन इसका और मेरा बहुत पुराना रिश्ता है। छोटा था, तो नक्शे पढ़ने का शौक था। इतना भी पता था कि इस इलाके में हिंदी नहीं बोली जाती। तो जब पहली बार किसी नक्शे में अरुणाचल में ‘परशुराम कुंड’ लिखा देखा, तो आश्चर्यचकित रह गया था।

परशुराम यहाँ क्या कर रहे हैं!

और समझ में आज भी नहीं आता कि परशुराम यहाँ क्या कर रहे हैं। और वे यहाँ कैसे पहुँचे? पौराणिक कथाएँ निश्चित ही बड़ी रोचक होती हैं, लेकिन कई बार ऐसे-ऐसे प्रसंग आ जाते हैं कि आश्चर्य में डाल देते हैं। एक तो परशुराम का अरुणाचल आने का प्रसंग और दूसरा श्रीकृष्ण का रुक्मिणी-हरण का प्रसंग; ये दो पौराणिक घटनाएँ अरुणाचल से संबंधित हैं। मुझे बड़ा हैरान करती हैं दोनों।

खैर, जो भी हो; मकर संक्रांति पर यहाँ मेला लगता है।

कुंड तक पहुँचने के लिए पहले कुछ सीढ़ियाँ ऊपर चढ़नी होती हैं, फिर कुछ नीचे उतरना होता है और हम पहुँच जाते हैं लोहित के एकदम किनारे। पानी बड़ी तेज गति से बहता है यहाँ। इसे देखते हुए भी डर लगता है और नहाने के लिये सुरक्षित घाट भी नहीं है। नदी में उतरकर ही स्नान करना होता है।

हैरानी यह देखकर हुई कि अरुणाचल और पूर्वोत्तर का एक प्रमुख तीर्थ होने के बावजूद भी यहाँ यात्रियों के ठहरने की कोई सुविधा नहीं। कुछ मंदिर भी बने हैं, लेकिन होटल कोई नहीं। नदी किनारे जंगल में परशुराम कुंड है और बात खत्म। या फिर इधर-उधर एकाध होटल होगा, हमें दिखा नहीं।

अब बारी थी सीधे मेदू जाने की। यहाँ से निकलते ही कामलांग सेंचुरी के सूचना-पट्ट दिखने लगे थे। जंगल भी था, गाँव भी थे, खेत भी थे, पहाड़ भी थे और मैदान भी। सड़क भी अच्छी। धीरे-धीरे चलते रहे, एक-एक मोड़ और एक-एक नजारे को आत्मसात करते हुए। ट्रैफिक एकदम नगण्य। मनोज ने अपने घर की दूरी बता दी। हम बाइक के मीटर में एक-एक किलोमीटर कम होते देखते रहे।

वाकरू पुल पर पहुँचे। बगल में सेंचुरी की कुछ इमारतें बनी हैं। पुल पार करते ही खराब सड़क। एक रास्ता बाएँ जाता दिखा। यह वही रास्ता है, जिससे हम कल मियाओ से आने वाले थे। एक पेट्रोल पंप भी है। मुझे पेट्रोल पंप की दुर्दशा पर वास्तव में तरस आया।

क्यों?

क्योंकि कुछ ही समय पहले तक तिनसुकिया और गुवाहाटी व शेष भारत से लोहित जिले और आगे वालोंग, किबिथू तक जाने की एकमात्र सड़क यही हुआ करती थी। सीमा सड़क संगठन इसकी देखरेख करता था। अभी भी बी.आर.ओ. के सूचना-पट्ट और उनकी लिखी दूरियाँ आपको दिख जाएँगे। लेकिन लोहित नदी पर लगातार दो पुल - धोला-सदिया पुल और आलूबारी पुल - बन जाने से अब इस रास्ते की उपयोगिता एक ग्रामीण रास्ते से ज्यादा नहीं रही।

वाकरू पुल के बाद रास्ता बहुत खराब था। गनीमत थी कि हमें अब ज्यादा नहीं चलना पड़ेगा। बाइक के बैक-व्यू मिरर में दाफाबुम की बर्फीली चोटी नजर आ रही थी। और बार-बार जंगल-जंगल लिखने की आवश्यकता ही नहीं।

मनोज जोशी के घर पर पहुँचे। उनकी माताजी और भतीजी यहाँ थे। पिताजी किसी काम से तिनसुकिया गए थे। यहाँ इनकी एक आरा मशीन है। मूल रूप से झुंझनूँ में पिलानी के हैं। कभी किसी जमाने में इनके पिताजी यहाँ आए थे और आरा मशीन चालू की थी। अब इस काम को मनोज संभाल रहे हैं।

अरुणाचल में व्यापारियों के क्या हाल हैं, वो तो मुझे जागुन में पता चल चुका था। अब देखना था कि मनोज के क्या हाल हैं।

“मनोज भाई, विस्तार से तो बात करूँगा ही, फिलहाल मुझे फटाफट बता दो कि यहाँ आप सुरक्षित तो हो ना?”

“अरे नीरज, कैसी बात करते हो! एकदम सुरक्षित हैं। कोई झंझट नहीं। यह आरा मशीन दो पीढ़ियों से चल रही है, केवल इसीलिये तो चल रही है कि कोई झंझट नहीं है।”

तभी दरवाजे पर एक कार आकर रुकी। होरन बजा। मनोज ने कहा - “एक मिनट रुको, अभी आता हूँ।”

“कौन है?”

“चिंता ना करो भाई, कोई दिक्कत नहीं है।”

मुझे मनोज के हावभाव कुछ बदले-से लगे। मैं भी पीछे-पीछे हो लिया। कार में चार स्थानीय लड़के थे। एक नीचे उतरा। इज्जत से बात करता हुआ मनोज के बुलाने पर अंदर आया और एक रसीद-बुक निकाल ली। इस पर नाम-पता लिखकर 3000 रुपये लिख दिए।

“लेकिन फोन पर तो 1500 रुपये की बात हुई थी।” मनोज ने कहा।

“हाँ हाँ, सॉरी सॉरी।” और काटकर 1500 कर दिया। मनोज ने पाँच-पाँच सौ के तीन नोट इसे पकड़ाए और रसीद ले ली। वे सब चले गए।

उनके जाते ही मैंने रसीद पढ़ी। अंग्रेजी में थी। कहानी ज्यादा समझ में नहीं आई।

“मनोज भाई, क्या है यह?”

“वसूली के तरीके हैं। हर तीसरे-चौथे दिन कोई न कोई आता रहता है और तरह-तरह से पैसे ले जाता है।”

“आज की क्या कहानी है?”

“इधर फलाँ जनजाति के लोग रहते हैं। ये भी उसी जनजाति के लड़के हैं। सरकार ने उधर कुछ दूर दूसरी जनजाति वालों को विस्थापित करके बसाया है। ये लोग इसका विरोध कर रहे हैं। तो कल ये विरोध-स्वरूप अपने गाँव से चौखाम तक एक रैली निकालेंगे। इसके लिये पैसे चाहिए।”

“क्या वास्तव में रैली निकालेंगे?”

“नहीं, बिल्कुल भी नहीं। दारू पिँएँगे और मुर्गा खाँएँगे।”

“और अगर आप पैसे न दो, तो?”

“आओ, एक चीज दिखाता हूँ।”

मुख्य दरवाजे के पास लकड़ी की एक चौखट दिखाई - “ये देखो। इस पर ये निशान हैं ना? ये दाव के निशान हैं। अगर हम पैसे देने से मना कर दें, तो दाव चल जाता है। अगर थोड़ा भी होश है, तो यह दाव चौखट या कुर्सी-मेज पर चलता है; लेकिन अगर होश नहीं है या झगड़ा ज्यादा हो जाता है, तो दाव गर्दन पर भी चल जाता है।”

मैं चुप।

“घबराओ मत। आओ, मैं तुम्हें सारा गणित समझाता हूँ।”

अंदर पहुँचे। खाना तैयार हो गया था। दो तरह की आलू की सब्जियाँ, पराँठे और दही का रायता।

“देखो भाई, हमारी आरा मशीन है। इसके लिये हमें क्या चाहिए?”

“लकड़ी।”

“वो कहाँ से आएगी? हम बाहरी लोग यहाँ न कुछ प्राँपर्टी खरीद सकते हैं और न ही पेड़ आदि काट सकते हैं।”

“...”

“लेकिन स्थानीय लोग तो काट सकते हैं। तो ये लोग हमें कच्चा माल दे जाते हैं। हम एक रुपये के कच्चे माल को दस रुपये का पक्का माल बना देते हैं। नौ रुपये हमारी जेब में आते हैं। अब अगर ये लोग हमसे तीन रुपये या चार रुपये की वसूली भी कर लेते हैं, तब भी हमें पाँच-छह रुपये शुद्ध लाभ होता है। यही काम अगर हम दिल्ली या अपने यहाँ करते, तो शुद्ध लाभ पचास पैसे भी नहीं होता।”

खाना खाकर मैं पीछे बिस्तर पर लुढ़क गया। मनोज किसी काम के सिलसिले में बाहर चला गया। मैं सोचने लगा - मनोज भी अपनी जगह ठीक है। स्थानीय लोग भी अपनी जगह ठीक हैं। लेकिन जंगल समाप्त होते जा रहे हैं। इस तरह की पता नहीं कितनी आरा मशीनें होंगी! रोज कितने पेड़ कटते होंगे! एक दिन ऐसा आएगा, जब सभी पेड़ कट चुके होंगे। मनोज नहीं होता, तो कोई और होता। होंगे भी। इससे भी बड़ी-बड़ी आरा मशीनें होंगी।

क्या यह सब रोका नहीं जा सकता?

यही सवाल बाद में मनोज से पूछा। बड़ा प्यारा उत्तर मिला - “अभी कुछ ही साल पहले यहाँ बहुत घना जंगल था। तेंदुए तो खुले घूमते थे सड़क पर। मैंने खुद देखे हैं। अब कहीं जंगल नहीं बचा है। और मैं जल्द ही इस काम को बंद करने वाला हूँ।”

“फिर खाओगे क्या? अब आप पिलानी जाकर तो रह नहीं सकते।”

“हाँ, अब हम अरुणाचल की शीतलता को छोड़कर पिलानी की गर्मी में तो नहीं रह सकते। हमने एक चाय बागान खरीद लिया है। और भी खरीदने पर विचार चल रहा है। झंझट आरा मशीन में भी है और चाय बागान में भी है। लेकिन कम से कम पाप तो सिर नहीं लगेगा।”

“चाय बागान कितना दूर है?”

“पास में ही है।”

“चलो।”

चाय बागान में पहुँचे। डेढ़ सौ बीघे का यह बागान था। शाम का समय था। छिपता सूरज बड़ा अच्छा लग रहा था। दूर दाफाबुम भी थी। एक गाड़ी पत्तियों से भरी खड़ी थी। गाड़ी-भर पत्तियाँ अभी भी बची थीं। स्थानीय ड्राइवर कह रहा था कि वो दूसरा फेरा सुबह लगाएगा, अभी नहीं लगाएगा। मनोज कोशिश में था

कि अभी एक फेरा और लग जाए तो आज की सारी पत्तियाँ चली जाएँगी। अन्यथा सुबह तक इनकी गुणवत्ता कम हो जाएगी। बागान में ही मजदूरों की झोपड़ियाँ थीं। एक भरोसे के आदमी को मनोज ने कहा कि रात-भर में तीन-चार बार पत्तियों को पलटना है।

“अगर गर्मी का मौसम होता, तो सुबह तक ये सारी पत्तियाँ खराब हो जातीं। लेकिन अब सर्दियाँ हैं, तो टिकी रहेंगी।”

फिर मनोज अपनी बात बताने लगे - “नीरज भाई, मैंने दिल्ली से फलाँ डिग्री ले रखी है। नौकरी के लिये बड़ी मारामारी है। मुझे बिजनेस ही करना था। लेकिन उधर बात जमी नहीं। मारामारी बहुत है और हर कोई हर किसी पर पैर रखकर आगे निकल जाना चाहता है। फिर मन में आया कि पिताजी के जमे-जमाए बिजनेस में हाथ लगाया जाए। तब मैं यहाँ आ गया।”

एक और आरा मशीन में ले गए। यह काफी बड़ा कारखाना था। प्लाई बनती है यहाँ। चौबीसों घंटे काम होता है। मजदूरों में बाहरी भी थे और स्थानीय भी। महिलाएँ भी।

“इसका मतलब सभी स्थानीय वसूली नहीं करते। कुछ अपनी मेहनत की कमाई पर भी भरोसा करते हैं।”

“हाँ, कुछ प्रभावशाली लोग ही वसूली करते हैं। और ये ही लोग राजनीति में भी है। इसलिए न कभी वसूली बंद होने वाली है और न कभी पेड़ों का कटना रुकने वाला।”

इस आरा मशीन में ‘दिल्ली’ नंबर का एक ट्रक खड़ा था, यमुनानगर प्लाई ले जाने के लिए।

मनोज की माताजी बड़ी खुशमिजाज महिला थीं - “हमारा तो पिलानी में मन ही नहीं लगता। पिलानी से ज्यादा सुरक्षित है मेदू। भले ही वसूली करते हों, लेकिन सीधे-सादे लोग हैं। ये लोग महिलाओं की बहुत इज्जत करते हैं। जब मैं अकेली होती हूँ, तो ये लोग कभी भी घर में प्रवेश नहीं करेंगे और गाली-गलौच तो कतई नहीं करेंगे। जंगल इनका, पेड़ इनके, सबकुछ इनका। अब ये लोग इसमें से अपना थोड़ा-सा हिस्सा मांग रहे हैं, तो दे देना चाहिए।”

“लेकिन आज जो हमने वसूली वाले लोग देखे, वे तो इसी गाँव के लोग थे। क्या यहाँ और लोग भी आते हैं?”

“नहीं, यहाँ नहीं आते। लेकिन उधर मियाओ की तरफ नागा लोग आते हैं।”

“लेकिन मियाओ और मेदू हैं ही कितनी दूर?”

“यह लोहित जिला है और वह चांगलांग जिला। नागा लोग चांगलांग को नागालैंड का ही हिस्सा मानते हैं, इसलिये उधर वसूली करते हैं।”

“तो वसूली करने से पहले वे लोग व्यापारियों को बता तो देते होंगे। दो-चार दिन का समय तो देते ही होंगे।”

“हाँ, बताते हैं।”

“तो व्यापारी पुलिस को नहीं बताते क्या? क्योंकि उल्फा आदि तो ‘मोस्ट वांटेड’ भी होते हैं।”

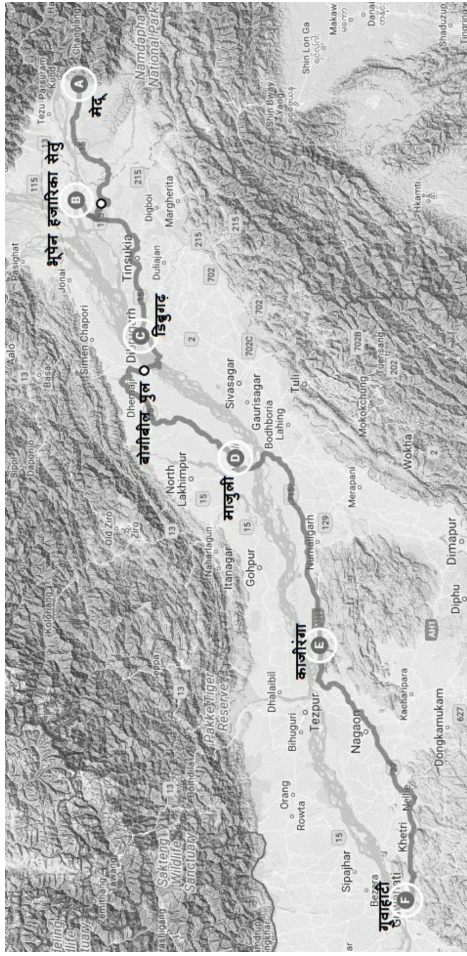
“भाई, जमा-जमाया काम है सबका। कोई इसे बिगाड़ना नहीं चाहता।”

दादी-पोती की अपनी अलग ही दुनिया थी। दादी सीरियल चलातीं, तो पोती तिरछी निगाहों से दादी को देखती और पोती कार्टून चलाती, तो दादी और भी तिरछी निगाहों से पोती को देखतीं।

“हमारा एक-दूसरे के बिना काम नहीं चलता। इसे दादी चाहिए और मुझे पोती। इसी कारण इसके पापा-मम्मी के लाख मना करने और डरने के बावजूद भी हम इसे यहाँ ले आए। यह भी खुश है और हम भी।”

“और पढाई?”

“पास में ही स्कूल है। हिंदी और अंग्रेजी दोनों माध्यमों में पढाई होती है।”



5. असम के आर-पार फिर से

15 नवंबर 2017

अभी इनकी आरा मशीन में कोई काम नहीं हो रहा था। सभी कई दिनों से बंद थीं। असल में ये जो 'प्रोडक्ट' बनाते हैं, उनकी असम में घर बनाने के लिए बड़ी मांग है, तो इनका सारा माल असम में खप जाता है। दो महीनों बाद 'पीक सीजन' आएगा। बारिश से पहले सभी अपने-अपने घरों की मरम्मत और निर्माण पूरा कर लेना चाहेंगे।

“अरुणाचल में पैदा हुई चाय, असम चाय के नाम से बिकती है या अरुणाचल चाय के नाम से?”

“असम चाय के नाम से।”

“अरुणाचल चाय के नाम से बिकनी चाहिए।”

“कौन करेगा ऐसा? किस अरुणाचली को इतनी समझ है? चाय बागानों के मालिक सब बाहरी हैं। उन्हें क्या पड़ी है कि चाय अरुणाचल के नाम से बिके?”

इनके घर की बगल में भी एक बागान था। तसल्ली से फोटो खींचने के लिए कुछ देर इसमें भी गए। यह जानकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि चाय का एक पौधा 70 से 100 सालों तक चलता है। उसे कुछ देखभाल चाहिए और वह लगातार पत्तियाँ देता रहेगा।

हमारी आज की योजना थी कि सदिया पुल और भीष्मकनगर देखते हुए आज रात रोइंग रुकेंगे। कल की कल देखेंगे और परसों रात तक गुवाहाटी पहुँचना ही है। उससे अगले दिन हमारी दिल्ली की फ्लाइट है।

चौखाम तक रास्ता बहुत खराब था, लेकिन चौखाम में तिनसुकिया वाली सड़क मिल गई। हम कल ही इस सड़क से गए थे। सदिया पुल जाने के एक विकल्प के तौर पर इधर आलूबारी पुल होते हुए लोहित के उत्तरी किनारे-किनारे चलते जाना था, लेकिन हमने दक्षिण वाला रास्ता ही पकड़ा।

कल तो गोल्डन पैगोड़ा छोड़ दिया था, लेकिन आज नहीं छोड़ा। इसके पास ही ट्रैफिक पुलिस ने रोक लिए। हम रुके – “हाँ जी, कौन-से कागज दिखाने हैं?”

“आप दिल्ली से ही बाइक पर आए हो?”

“नहीं सर, गुवाहाटी से।”

“कागज तो पूरे ही होंगे?”

“आपको क्या लगता है?”

“हाँ, पूरे ही होंगे। फिर भी 'पॉल्यूशन' दिखा दो।”

गोल्डन पैगोड़ा बड़ा शानदार लगता है। 2010 में यह आम जनता के लिए खोला गया। बहुत बड़े भू-भाग में फैला है। अद्भुत है! चारों तरफ घास के मैदान

और ताल तो इसकी सुंदरता में चार चांद लगा देते हैं।

यहाँ से चलकर सीधे दौड़ लगा दी तिनसुकिया की तरफ। अच्छी सड़क बनी है। रूपाई से कुछ पहले कहीं से दाहिने मुड़कर सदिया मार्ग पर जा पहुँचे।

सदिया शहर पहले सूतिया राज्य की राजधानी था। यह लोहित और दिबांग के संगम पर बसा हुआ था। एक बार भयानक बाढ़ आई और पूरा शहर समाप्त हो गया। उस पुराने शहर के अवशेष अब कहीं नहीं मिलते। या शायद कहीं एकाध अवशेष बचे हों। लेकिन इस स्थान को अभी भी सदिया ही कहते हैं। असम का यही छोटा-सा इलाका है, जो लोहित के उत्तर में स्थित है। एक तरफ लोहित और एक तरफ दिबांग व सियांग नदियाँ। बाकी तरफ अरुणाचल, जहाँ के लिए असम वालों को भी इनर लाइन परमिट लेना होता है। इनर लाइन परमिट के लिए भी लोहित पार करके डिब्रुगढ़ जाना पड़ता था। कुल मिलाकर असम के इस क्षेत्र के लोग इस छोटे-से इलाके में 'बंद' थे। बरसात में बाढ़ आने पर और भी बंद हो जाते होंगे।

लेकिन अब यहाँ 9 किलोमीटर से भी लंबा पुल बन गया है। भारत का सबसे लंबा सड़क पुल। पिछले दिनों प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने इसका उद्घाटन किया था। सदिया और सदिया के परे अरुणाचल देखने की उतनी इच्छा नहीं थी, जितनी इस पुल को देखने और इस पर मोटरसाइकिल चलाने की थी। आज वो इच्छा पूरी हो रही थी।



पुल अंग्रेजी के 'S' जैसा का है। इस पर खड़े होकर लोहित को देखना बेहद रोमांचक होता है। और अगर नीचे मछुआरे भी हों, तो फिर कहना ही क्या! यह नदी ही मछुआरों का जीवन है। नावें 'हाउसबोट' होती हैं। इनमें इनके दैनिक जीवन की प्रत्येक वस्तु उपलब्ध रहती है। खाना भी, छत भी, बिस्तर भी और आग भी। पीने और खाना बनाने के लिए नदी के पानी का ही प्रयोग होता है।

उत्तर में अरुणाचल ज्यादा दूर नहीं। बर्फीली चोटियाँ तक यहाँ से दिख रही थीं। दक्षिण में भी पहाड़ियाँ दिखती हैं। वे भी अरुणाचल की ही पहाड़ियाँ हैं। कुछ नागालैंड की भी। यहाँ बस इतना-सा ही असम है। लोहित और ब्रह्मपुत्र के इर्द-गिर्द।

पुल पार करके कुछ ढाबे थे। इन्हें देखते ही भूख लग आई। रोटी-सब्जी मिल गई।

अब तक दो बज चुके थे। दो घंटे बाद दिन छिप जाएगा। इसका अर्थ है कि हम

आज भीष्मकनगर नहीं देख पाएँगे। अरुणाचल का यह इलाका पर्यटकों में लोकप्रिय नहीं है। इसलिए शहरों में भी होटलों की तंगी रहती है। आज वैसे तो रोइंग रुकना था, लेकिन मैं वहाँ अंधेरे में नहीं जाना चाहता था। अगर आज रोइंग रुकते हैं, तो कल हम भीष्मकनगर नहीं जाएँगे, क्योंकि वह उल्टी दिशा में स्थित है। तो क्या हम केवल एक रात रुकने फिर से अरुणाचल में प्रवेश करने जा रहे हैं?

अरुणाचल जाने का इरादा बदल गया। 9 किलोमीटर लंबा पुल फिर से पार किया और तिनसुकिया की ओर चल दिए।

कुछ दूर बाद डंगोरी के पास रेलवे लाइन मिल गई, जो सड़क के एकदम साथ-साथ डिब्रुगढ़ तक जाने वाली है। मुझे रेलवे स्टेशनों के नाम वाले पीले बोर्डों के फोटो खींचकर संग्रह करने का भी शौक है। मैं पहले कभी इस डंगोरी वाली लाइन पर नहीं आया था। कभी न कभी फोटो खींचने अवश्य आना पड़ेगा। तो क्यों न इस काम को भी आज ही निपटा दूँ?

लेकिन यह रेलवे लाइन बेहद खास है। यह असम और पूर्वोत्तर भारत की सबसे पहली लाइन है। शुरू में यह मीटरगेज थी। इसे डिब्रु-सदिया रेलवे कंपनी ने 1881 में बनाना शुरू किया था और अगस्त 1882 में डिब्रुगढ़ बाजार स्थित स्टीमर घाट से चाबुवा के नजदीक तक चला भी दिया था। उससे आगे जुलाई 1883 में माकुम तक, मई 1884 में दमदमा तक और फरवरी 1885 में तालाप तक चालू कर दिया गया। उद्देश्य था, इस इलाके में चाय की बंपर पैदावार को डिब्रुगढ़ स्टीमर घाट तक पहुँचाना।

इसके साथ ही माकुम से एक ब्रांच लाइन भी निकाली गई, जिसे मई 1884 में मार्घेरिता स्थित दिर्हिंग नदी तक खोला गया। ठीक इसी दौरान एक अन्य रेलवे कंपनी ने लीडो और लेखापानी के आसपास से कोयला ढोने के लिए मीटरगेज की ही एक लाइन मार्घेरिता से लीडो तक फरवरी 1884 में खोली। बाद में इस कंपनी का डिब्रु-सदिया रेलवे में विलय हो गया।

फिर मई 1910 में तालाप से साईखोवा घाट तक भी रेलवे लाइन बिछा दी गई, ताकि अकेले डिब्रुगढ़ पर ही सारा भार न पड़े। वर्तमान में साईखोवा घाट में रेलवे तो नहीं है, लेकिन उससे कुछ पहले डंगोरी में रेलवे है, जो ब्रॉडगेज है। यह लाइन इस सड़क के साथ-साथ ही है, इसलिए मैं आसानी से इसके फोटो ले सकता था, लेकिन इससे इस ऐतिहासिक लाइन पर ट्रेन में यात्रा करने का आनंद कम हो जाता।

तिनसुकिया शहर में बड़ी भीड़ थी। लेकिन एक बार शहर से बाहर निकले, तो भीड़ कम हो गई। डिब्रुगढ़ तक अच्छी सड़क है, तो ज्यादा समय नहीं लगा पहुँचने में। फिर भी पहुँचते-पहुँचते अंधेरा हो गया।

तिनसुकिया से डिब्रुगढ़ तक सड़क और रेल साथ-साथ हैं। पता नहीं कि सड़क रेलवे की जमीन पर बनी है या रेलवे सड़क की जमीन पर। वैसे 1881 में रेलवे कंपनी को फ्री में जमीन दी गई थी।

डिब्रुगढ़ में होटल बड़े महंगे मिले। सस्ते भी होंगे, लेकिन हमें सिर्फ महंगे ही

दिखाई पड़े। होटल देखते ही उत्साह खत्म हो जाता। अगर थोड़ा-बहुत उत्साह बचाकर हम अंदर जाते भी, तो चार अंकों में रेट सुनकर भाग आते। आखिरकार ब्रह्मपुत्र के पास एक शानदार होटल में 500 रुपये का कमरा मिल ही गया।

बाजार देखकर दीप्ति का मन डोल गया और उसका मन मेखला चादर लेने का करने लगा। एक मारवाड़ी की दुकान में जाकर बैठ गई और मैं बाहर खड़ा हो गया। दुकानदार ने मुझसे कहा – “भाईसाहब, आप भी अंदर बैठ जाओ। अभी तो बहुत समय लगेगा।”

“ना, मैं ठीक हूँ।”

दुकान में एकाध ही कोई अन्य ग्राहक था। मैं बार-बार इशारे करता, ताकि दीप्ति जल्दी शॉपिंग समाप्त करे, लेकिन कोई असर नहीं हुआ। पंद्रह मिनट बाद पुनः – “भाईसाहब, कब तक बाहर खड़े रहोगे? टैम लगेगा।”

“हाँ, ठीक है। कोई दिक्कत नहीं।”

और इसके पंद्रह मिनट बाद, आखिरकार मैं बैठ ही गया। और उसके पंद्रह मिनट बाद एक मेखला चादर से शॉपिंग समाप्त हुई।

16 नवंबर 2017

डिब्रुगढ़ से बोगीबील का रास्ता इतना सुनसान था कि हमें एक स्थानीय से पूछना पड़ा। लेकिन जब ब्रह्मपुत्र के किनारे पहुँचे, तो ब्रह्मपुत्र की विशालता और इस पर बन रहे पुल को देखकर आश्चर्यचकित रह गए। यहाँ आने का एक उद्देश्य यह पुल देखना भी था। 2002 में यह पुल बनना शुरू हुआ था, लेकिन अभी तक भी पूरा नहीं हुआ है। फिलहाल पूरे पूर्वोत्तर में सड़क और रेल बनाने का काम जोर-शोर से चल रहा है, तो उम्मीद है कि एक साल के भीतर यह पुल भी चालू हो जाएगा। चालू होने के बाद लगभग 5 किलोमीटर लंबा यह पुल देश में सबसे लंबा सड़क-सह-रेल पुल होगा। इधर डिब्रुगढ़ और उधर धेमाजी रेल मार्ग से जुड़ जाएँगे। पुल के दोनों किनारों तक रेल की पटरियाँ बिछ चुकी हैं, स्टेशन भी तैयार हो चुके हैं और पुल निर्माण की सारी सामग्री रेल के माध्यम से ही आती है। पुल बनते ही इस पर ट्रेन चलने में कोई समय नहीं लगेगा।

“घाट किधर है?”

“उधर।”

कुछ दूर रेत में चलना पड़ा और हम एक चहल-पहल वाले स्थान पर थे। बहुत सारी गाड़ियाँ खड़ी थीं, यहाँ तक कि बसें भी। ढाबे थे और बहुत सारे स्टीमर थे। कईयों पर गाड़ियाँ और मोटरसाइकिलें लदी खड़ी थीं, तो कईयों से उतारी जा रही थीं। गौरतलब है कि ब्रह्मपुत्र के दक्षिण में स्थित डिब्रुगढ़ और तिनसुकिया बड़े व्यापारिक शहर हैं और रेल के जंक्शन भी। इसलिए उत्तर किनारे की बड़ी आबादी और अरुणाचल के लोग भी दक्षिण में खूब आना-जाना करते हैं।

हमारी मोटरसाइकिल भी एक स्टीमर पर चढ़ा दी गई। बराबर में बोगीबील पुल था, जिसका परला किनारा नहीं दिख रहा था। बीच का एक 'स्पान' बाकी था, बाकी पूरा पुल बन चुका था।

उधर पहुँचने में डेढ़ घंटा लगा। नदी में बहुत सारे द्वीप थे और नाविकों को इन द्वीपों के बीच से सही रास्ते की जानकारी थी। बरसात में जब नदी चढ़ती होगी, तो घाट भी डूब जाते होंगे। तब नए घाट बनाए जाते होंगे और दूरी तो निश्चित ही बढ़ जाती होगी।

दूसरी तरफ भी ऐसा ही माहौल था। चहल-पहल और ढाबे। कारों को लकड़ी के एक-एक फुट चौड़े फट्टों पर चलाकर नाव से किनारे पर लाना और किनारे से नाव पर चढ़ाना खासा रोमांचक था। अगर ड्राइवर जरा भी गलती करे तो कार नीचे नदी में भी गिर जाती होगी। मैं कैमरा लिए तैयार खड़ा रहा कि कोई ड्राइवर तो गलती करेगा ही, लेकिन किसी ने भी गलती नहीं की और सभी कारें आसानी से चढ़-उतर गईं।

अब हम उत्तरी असम में थे। ब्रह्मपुत्र के उत्तर में यह एक लंबी मैदानी पट्टी है, जिसके उत्तर में अरुणाचल की पहाड़ियाँ हैं। रंगिया से रेल की एक लाइन यहाँ आखिर में मुरकंग सेलेक तक आती है। एक सड़क भी है, जिसे इस क्षेत्र की मुख्य सड़क कहा जा सकता है। यह सड़क अच्छी बनी थी और ट्रैफिक भी नगण्य ही था।

हमें अब माजुली जाना था और हम गूगल मैप पर निर्भर थे। अच्छी सड़क पूर्वोत्तर में अभी भी कम ही हैं और हम अधिक से अधिक दूरी तक इस अच्छी सड़क का लाभ लेना चाहते थे।

“यह सड़क कहाँ तक अच्छी है?”

“आखिर तक अच्छी ही है।”

“आखिर तक मतलब?”

“तेजपुर तक।”

हमें तेजपुर से बहुत पहले ही यह सड़क छोड़ देनी पड़ेगी। इसका अर्थ है कि हम जब तक इस सड़क पर रहेंगे, हमें शानदार ही मिलेगी। उधर माजुली जाने के दो रास्ते दिख रहे थे – एक तो गोगामुख से और दूसरा नॉर्थ लखीमपुर से। गोगामुख से जो सड़क जाती है, वह ब्रह्मपुत्र की उस धारा को पार करती है, जिसके उस पार माजुली स्थित है। माजुली दुनिया का सबसे बड़ा नदी-द्वीप है और इसके एक ओर ब्रह्मपुत्र की मुख्य धारा है और दूसरी ओर ब्रह्मपुत्र की एक छोटी धारा। इसके पश्चिमी भाग में सुबनसिरी नदी भी आकर ब्रह्मपुत्र में मिलती है।

तो गोगामुख से जो सड़क माजुली जाती है, वह ब्रह्मपुत्र की उस छोटी धारा को पार करती है। सैटेलाइट से देखने पर स्पष्ट हो गया कि उस पर पुल बना है। उधर नॉर्थ लखीमपुर से जो रास्ता जाता है, वह सुबनसिरी नदी को पार करता है और पुल नहीं बना है। नाव से नदी पार करनी पड़ेगी। इसलिए तय किया कि

गोगामुख से ही हम इस राजमार्ग को छोड़कर माजुली की ओर चल देंगे।

गोगामुख से कुछ पहले बोरदोलोनी में जब हम मीठे समोसे और चाउमीन खा रहे थे, तो माजुली की दिशा में जाते एक रास्ते पर निगाह पड़ी।

“वह रास्ता कहाँ जाता है?”

दुकान वाले ने असमिया लहजे में उत्तर दिया, हमें समझ नहीं आया। नक्शे में देखा तो पता चला कि यह भी गोगामुख-माजुली सड़क में मिल जाएगा और अगर हम इससे जाते हैं तो हमें और भी कम दूरी तय करनी पड़ेगी।

“इधर नदी पर पुल बना है क्या?”

“कौन-सी नदी पर?”

“वही जो बोरदोलोनी से निकलते ही है।”

“कुमोतिया नदी? हाँ, पुल बना है। लेकिन आपको जाना कहाँ है?”

“माजुली।”

सोचते हुए – “माजुली, माजुली। वो तो बहुत दूर है।”

खराब सड़क थी। लेकिन जब गोगामुख से आने वाली सड़क भी आ मिली, तो सड़क चौड़ी भी हो गई और अच्छी भी। इस सड़क को और भी चौड़ा करने का काम चल रहा है। लेकिन केवल ढकुवाखाना तक ही। ढकुवाखाना काफी बड़ा कस्बा है और बड़ी चहल-पहल थी। इसके बाद चूँकि सड़क का काम नहीं चल रहा है तो पतली सिंगल सड़क है और बुरी तरह खराब भी।

असम के अंदरूनी हिस्से में तो हम पहले भी थे, लेकिन राजमार्ग छोड़ने के बाद और भी ज्यादा अंदर पहुँच गए। बाँस के झुरमुट, केलों के गाछ और धान के खेत। खेतों में काम करते ग्रामीण। छोटी नदियों के पुल और नदी की ऊँची घास के मैदानों में बगुलों जैसे प्रवासी पक्षी।

एक जगह पुलिस का बैरियर था। ‘दिल्ली’ की मोटरसाइकिल तो रोकी ही जानी थी, लेकिन जब मैंने पूछा कि कौन-सा कागज दिखाऊँ, तो पुलिस वाला कागज देखने से ज्यादा यह जानने को उत्सुक था कि हम यहाँ कैसे आए और हमें इस रास्ते की जानकारी किसने दी।

“माजुली जाने वाले सभी लोग तो उधर गुवाहाटी और जोरहाट की तरफ से मुख्य जलधारा बोट से पार करके आते हैं। इधर से कोई भी नहीं जाता।”

“हम रिमोट असम को भी देखना चाहते थे, तो इस रास्ते माजुली जाने से बेहतर कुछ नहीं लगा।”

“सही किया आपने, लेकिन यह सड़क इतनी खराब है कि आप थक गए होंगे।”

“हाँ, थक तो गए, लेकिन इसकी वजह से हमारी रफ्तार बहुत कम है और हम सड़क से नजर हटाकर इधर-उधर भी देख लेते हैं। आप बताइये, कौन-सा कागज दिखाऊँ आपको?”

“अब आप इतनी दूर घूम रहे हैं, तो पूरे कागज ही होंगे आपके पास। आप जाइये। हैप्पी जर्नी।”

एक पुल मिला। मैंने घोषणा कर दी कि यही जलधारा ब्रह्मपुत्र की जलधारा है, जिसके उस पार माजुली है। उम्मीद थी कि कहीं हमें लिखा मिलेगा – माजुली में स्वागत है। लेकिन यहाँ कुछ भी नहीं लिखा था। माजुली में प्रवेश करने की इतनी उत्सुकता थी कि गूगल मैप में जी.पी.एस. से अपनी सटीक लोकेशन देखी। पता चला, ब्रह्मपुत्र की वो जलधारा अभी कुछ आगे है। यह कोई और जलधारा थी।

अगले पुल के पार एक सूचना-पट्ट लगा था, जिस पर अंग्रेजी में लिखा था – वेलकम टू माजुली। हम पुल पर ही ठिठक गए। ब्रह्मपुत्र से निकली यह छोटी-सी जलधारा थी, जो आगे जाकर ब्रह्मपुत्र में ही मिल जाएगी। इसके ऊपर यह छोटा-सा कुछ मीटर का ही पुल था। इसी जलधारा के कारण माजुली विशेष है। इसी के कारण यह एक द्वीप है। अगर यह जलधारा न होती, तो माजुली ब्रह्मपुत्र के उत्तर में मुख्यभूमि का ही हिस्सा होता और यह यात्रियों के लिए कुछ भी आकर्षण नहीं रखता।

और हमने भी कभी नहीं सोचा था कि हम सड़क मार्ग से अपनी मोटरसाइकिल से माजुली जाएँगे। यह एक द्वीप है और ब्रह्मपुत्र के द्वीपों पर तो नावों से ही जाया जाता है। कुल मिलाकर इस समय अलग ही एहसास हो रहा था। दीप्ति मोटरसाइकिल पर बैठे-बैठे ही जलधारा के आसपास पक्षियों के फोटो लेने में व्यस्त थी।

सड़क अभी भी अच्छी नहीं आई। बल्कि और ज्यादा खराब हो गई। हमें उम्मीद थी कि कम से कम माजुली में तो अच्छी सड़क मिलेगी, जहाँ दुनियाभर से यात्री आते हैं।

जेंगराइमुख में बड़ी भीड़ थी। सड़क किनारे खूब मोटरसाइकिलें, कारें और बसें भी खड़ी थीं। लोग लाइनों में खड़े थे। हमें भी उत्सुकता हुई कि चक्कर क्या है। फिर एक बैनर से पता चला कि स्टेडियम में फुटबाल का एक मैच है। उसके लिए टिकट काउंटर बना था, दर्शक टिकट खरीद रहे थे और सुरक्षा-द्वार से होते हुए स्टेडियम में जा रहे थे।

गरमूर पहुँचे। तमाम तरह के बैनर और सूचना-पट्ट बता रहे थे कि गरमूर एक लोकप्रिय टूरिस्ट-प्लेस है। हमें अभी तक माजुली के बारे में केवल इतना ही पता था कि यह दुनिया का सबसे बड़ा नदी-द्वीप है। यहाँ क्या-क्या स्थान दर्शनीय हैं और हमें यहाँ कहाँ-कहाँ जाकर क्या-क्या देखना चाहिए, हमें कुछ भी नहीं पता था। गरमूर में एक नक्शा भी बना था। एक सड़क कमलाबाड़ी घाट जाती है। कमलाबाड़ी घाट वही स्थान है, जहाँ से लगभग सभी लोग नाव से ब्रह्मपुत्र पार करके माजुली आते हैं। हम भी इसी मार्ग पर चल दिए। यह सड़क अच्छी बनी थी।

500 रुपये में अटैच बाथरूम वाला एक बेहद साधारण कमरा मिल गया। यहाँ नेटवर्क भी था और अब बारी थी माजुली के बारे में कुछ और बातें जानने की।

“माजुली सत्रों की भूमि है।” इंटरनेट पर सबसे पहले यही पढ़ने को मिला।

“मतलब?”

सत्र क्या होता है? इस विषय में थोड़ी डुबकी लगाई, तो समझ में इतना आया कि अभी फिलहाल हम इस धार्मिक और सांस्कृतिक मामले को समझने में नाकाम हैं।

और अगर सत्र की महत्ता से बेखबर होकर हम विभिन्न सत्र देखते भी रहें, तो केवल कुछ फोटो को छोड़कर कुछ भी हाथ नहीं लगेगा। इसलिए कल हम माजुली नहीं घूमेंगे। हम तो यात्री हैं। आना-जाना लगा ही रहता है। अगली बार माजुली आएँगे, तो असम की संस्कृति के बारे में थोड़ा-बहुत जानकर ही आएँगे। या फिर किसी असमिया मित्र को साथ ले लेंगे।

लेकिन आज हम माजुली में थे – ब्रह्मपुत्र के बीच स्थित एक द्वीप पर – दुनिया के सबसे बड़े नदी-द्वीप पर – यही एहसास हमें विशिष्ट बना रहा था।

17 नवंबर 2017

आज शाम तक हमें गुवाहाटी पहुँचना है। कल हमारी दिल्ली की फ्लाइट है। बीच में काजीरंगा नेशनल पार्क पड़ेगा। देखते हुए चलेंगे। उधर ब्रह्मपुत्र पार करके कुछ ही दूर गोलाघाट में एक मित्र कपिल चौधरी रेलवे में नौकरी करते हैं। कल ही वे उत्तराखंड से घूमकर आए थे। आज जैसे ही उन्हें पता चला कि हम माजुली में हैं और काजीरंगा देखते हुए जाएँगे तो हमारे साथ ही काजीरंगा घूमने का निश्चय कर लिया। तो हम इधर से चल पड़े, वे उधर से चल पड़े।

फिर से ब्रह्मपुत्र नाव से पार करनी पड़ेगी। कमलाबाड़ी घाट। बड़ी चहल-पहल थी। ढाबे वाले झाड़ू वगैरा लगा रहे थे। पहली नाव सात बजे चलेगी। वह पहले उधर से आएगी, तब इधर से जाएगी। समय-सारणी लगी थी। ज्यादातर लोग दैनिक यात्री लग रहे थे। कोई चाय पी रहा था, कोई आराम से बे-खबर बैठा था। बहुत सारी मोटरसाइकिलें भी उधर जाने वाली थीं।

जैसे ही उधर से नाव आई और मोटरसाइकिलों का रेला नाव पर चढ़ने लगा तो हमें लगने लगा कि कहीं जगह कम न पड़ जाए और हमारी मोटरसाइकिल यहीं न छूट जाए। लेकिन नाववालों का प्रबंधन देखकर दाँतों तले उंगली दबानी पड़ गई। पचास-साठ मोटरसाइकिलें तो नाव की छत पर ही आ गईं। छत पर ऐसा इंतजाम किया गया था कि मोटरसाइकिलें फिसलकर ब्रह्मपुत्र में न गिर पड़ें। और जब नाव चलने लगी तो इसमें मोटरसाइकिलों के अलावा चार गाड़ियाँ, ढेरों साइकिलें, नीचे यात्री, ऊपर छत पर भी यात्री और मोटरसाइकिलों पर भी यात्री। और किराया नाम-मात्र का – बीस-पच्चीस रुपये।

डेढ़ घंटे लगे ब्रह्मपुत्र को पार करने में। यात्रियों से बातचीत हुई। यहाँ पुल बनेगा, पता नहीं कब। अभी तो पुल का नाम भी नहीं है। बन जाए तो अच्छा है। दैनिक यात्रियों को रोजाना तीन घंटे से ज्यादा आने-जाने में लगाने पड़ते हैं।

दूसरी तरफ निमातीघाट है। सड़क है और कुछ ही दूर जोरहाट। वर्तमान में जोरहाट में रेल है। पहले कभी निमातीघाट में भी रेल हुआ करती थी। ब्रह्मपुत्र की बाढ़ में एक बार तबाह हुई, तो बंद ही हो गई।

जोरहाट से कोहोरा की 100 किलोमीटर की दूरी को तय करने में दो घंटे लगे। नुमालीगढ़ के पास तक तो रास्ता अभी भी वैसा ही था, जैसा कुछ दिन पहले था अर्थात् खराब और टूटा हुआ, लेकिन इस बार यह खराब नहीं लगा। इसका कारण था कि अरुणाचल में हम बहुत ज्यादा खराब रास्तों पर चले थे। अब रास्ता जैसा भी था, उससे कई गुना अच्छा था।



कपिल हमसे पहले ही कोहोरा पहुँच गया था और काजीरंगा में प्रवेश के बारे में सारी जानकारियाँ हासिल कर ली थी। साथ ही यह भी पता कर लिया था कि दोपहर बाद गैंडे आदि पार्क में पश्चिम की ओर चले जाते हैं, इसलिए कोहोरा गेट से प्रवेश करना ठीक नहीं। यहाँ से कुछ किलोमीटर पश्चिम में बगोरी गेट से प्रवेश करना ज्यादा ठीक रहेगा। बगोरी गेट का परमिट यहाँ कोहोरा से भी बन जाएगा और बगोरी से भी।

चाउमीन खाकर हम कोहोरा फोरेस्ट ऑफिस के बाहर बैठकर काजीरंगा और कर्बी आंगलॉग के बारे में तमाम तरह की सूचनाएँ पढ़ने में व्यस्त थे, तभी तीन आदमी और आए। यात्री ही लग रहे थे। आते ही पूछा – “क्या आप लोग भी काजीरंगा जाओगे?”

मैंने रूखा-सूखा-सा जवाब दिया – “हाँ, जाएँगे।”

बोले – “हम भी जाएँगे।”

मैंने जेब से मोबाइल निकाला और इस पर नजरें गड़ाकर कहा – “हाँ, ठीक है। जाओ। जाना चाहिए।”

बोले – “तो एक काम करते हैं। हम भी तीन और आप भी तीन। मिलकर एक ही सफारी बुक कर लेते हैं। पैसे बच जाएँगे।”

और जैसे ही सुनाई पड़ा “पैसे बच जाएँगे”; तुरंत मोबाइल जेब में रखा और सारा रूखा-सूखा-पन त्यागकर सम्मान की मुद्रा में आ गया – “अरे वाह सर, यह तो बहुत बढ़िया बात रहेगी। मजा आ जाएगा। आप लोग कहाँ से आए हैं?”

“इंदौर, मध्य प्रदेश से।”

“भई वाह सर, यह समझ लो सरजी कि इंदौर में तो हमारा दूसरा घर है और

हम कई-कई दिन वहाँ गुजार देते हैं।”

“कहाँ? किस जगह?”

फिर तो हमने उन्हें जो सम्मान दिया, उतना सम्मान हमने कभी किसी को नहीं दिया होगा। खुली गाड़ी में सबसे आगे भी उन्हें ही बैठाया और सबसे पीछे भी उन्हें ही। आखिर हमारे कई सौ रुपये जो बचने वाले थे।

तो बगोरी गेट पहुँचे। मोटरसाइकिल भी सामान सहित यहीं खड़ी कर दी। आज हम पहली बार किसी नेशनल पार्क में सफारी पर जा रहे थे। वो भी एक ऐसे नेशनल पार्क में जो विश्व विरासत स्थल भी है और जहाँ दुनिया में सबसे ज्यादा एक सींग वाले गैंडे पाए जाते हैं और जहाँ बाघों का घनत्व भी सबसे ज्यादा है। 2015 की गणना के अनुसार, इस नेशनल पार्क में 2400 से भी ज्यादा गैंडे हैं। हालाँकि इसी साल आई बाढ़ के कारण बहुत सारे गैंडे नेशनल पार्क से निकलकर आबादी क्षेत्रों में और कर्बी आंगलोंग की पहाड़ियों में चले गए और शिकार के कारण मारे भी गए।

लेकिन प्रत्येक यात्री की तरह हमारी भी इच्छा थी कि बस, एक गैंडा देखने को मिल जाए। नेशनल पार्कों में जानवर आसानी से दिखते नहीं हैं, लेकिन एक गैंडा दिख जाएगा तो जीवन सफल हो जाएगा। हम हर दो-दो मिनट में ड्राइवर से यही पूछे जा रहे थे – “दादा, गैंडा दिख तो जाएगा ना?”

एक पुल पार करते ही नेशनल पार्क में प्रवेश कर गए। और थोड़ी ही दूर एक गैंडा दिख गया। ऊँची हाथी-घास में छुपा हुआ था और केवल पेट का कुछ हिस्सा दिख रहा था। कैमरा 30 गुणा जूम करने पर छोटा-सा फोटो आया। फिर कैमरा एक तरफ रख दिया और गाड़ी रुकवाकर इसे ही देखने में लग गए।

“आगे बहुत सारे गैंडे मिलेंगे और सड़क के एकदम नजदीक मिलेंगे”, ड्राइवर ने कहा।

“और अगर न मिले तो? एक गैंडा दिख रहा है। इसे ही निहारने दो, दादा।”

काजीरंगा नाम सुनते ही गैंडे की छवि बनती है और गैंडा नाम सुनते ही काजीरंगा दिमाग में आता है। दोनों एक-दूसरे के पर्याय कहे जा सकते हैं। मुझे नहीं पता था कि पार्क कितना बड़ा है और ज्यादातर गैंडे इस समय कहाँ होंगे। तो एक गैंडा घास में आधा छुपा था, तो मैं इसमें खो गया। पेट पर लटकती खाल और ऊपर बैठा एक बगुला।

ड्राइवर भी ऊब गया और बाकी सभी भी। आखिरकार गाड़ी चला ही दी। मुझे तसल्ली नहीं थी। मैं इस एक को ही घास से निकलते देखना चाहता था। मुझे नहीं पता था कि कुछ ही आगे अनगिनत गैंडे सड़क के एकदम नजदीक होंगे।

मैं तो हैरान रह गया यह देखकर। नेशनल पार्कों में बढ़ती व्यावसायिकता को देखकर मेरा कभी मन नहीं होता था जाने का। प्रवेश शुल्क, सफारी, फोरेस्ट हट्स और फिर तमाम तरह के प्रतिबंध – कभी मन नहीं होता था। आज पहली बार ये सब काम किए। और पहली बार एहसास हो रहा है कि नेशनल पार्क क्यों खास

होते हैं।

जंगली हाथियों में और जंगली भैंसों में किसी की दिलचस्पी नहीं थी, सिवाय मेरे। गैंडे समेत ये तीनों बड़े शाकाहारी जानवर एक ही मैदान में अपना भोजन साझा कर रहे थे। इनके बीच में बारहसिंगे और पक्षी तो खिलौने-से लग रहे थे। मन करने लगा कि एक-दो दिन रुकना चाहिए यहाँ, लेकिन आज हमारी यात्रा का आखिरी दिन था और दिन का भी आखिरी समय था।

“ये लोग फरवरी में सारी हाथी-घास को जला देते हैं। तब सभी जानवर स्पष्ट देखे जा सकते हैं। बाघ भी आसानी से दिख जाता है।” ड्राइवर ने बताया।

“क्यों? जला क्यों देते हैं?”

“क्योंकि फिर ताजी और नरम घास पैदा होती है, जो जानवरों के लिए फायदेमंद है।”

“लेकिन नेशनल पार्कों में तो जंगल को ज्यों का त्यों रहने दिया जाता है।”

“वो सब मुझे नहीं पता, लेकिन हाथी-घास फरवरी तक सूख जाएगी। अगर हम नहीं जलाएँगे, तो इसमें अपने-आप आग लग जाती है। फिर यह ज्यादा नुकसान करती है।”

पर्यटकों का एक दल इन सभी जानवरों को देखकर शोर मचाने लगा। गैंडे तो गुपचुप घास में जा छुपे, लेकिन हाथियों और भैंसों को कोई फर्क नहीं पड़ा। जहाँ गाड़ियों का होरन भी नहीं बजाया जा सकता, वहाँ पर्यटकों का भी शोर मचाना ठीक नहीं होता। पता नहीं मेरे देशवासी इस छोटी-सी बात को कब जानेंगे!

कुछ ही आगे ब्रह्मपुत्र नद था। लेकिन ड्राइवर ने उससे काफी पहले ही गाड़ी वापस मोड़ ली। ब्रह्मपुत्र के उस पार आबादी क्षेत्र है।

“तो क्या वे लोग नद पार करके इधर जंगल में नहीं आते कभी?”

“मछुआरे आ जाते हैं। उनसे जंगल को और जानवरों को कोई नुकसान नहीं।”

तो दो घंटे की इस यात्रा में इतने गैंडे मिले कि कुछ ही देर बाद हमारी प्राथमिकता में रंग-बिरंगे पक्षी आ गए। वैसे गैंडे और अन्य जानवर बाहर नेशनल हाईवे से भी देखे जा सकते हैं। वहाँ कई स्थानों पर ‘व्यू पॉइंट’ भी बने हुए हैं।

जंगल में घूमने से किसका मन भरता है! हमारा भी नहीं भरा। लेकिन बाहर तो निकलना ही था।

कपिल को विदा किया। उसे अभी भी बहुत लंबी दूरी बस से तय करनी है। पता नहीं उसे आखिर तक बस मिल भी जाएगी या नहीं। कुछ ही देर में अंधेरा हो जाएगा।

और इंदौर के मित्रों को भी अलविदा कहा। पता नहीं फिर कभी मिलना हो या न हो। इनके पास फोटो खींचने के लिए मोबाइल ही थे और मोबाइल द्वारा लिए गए फोटो में गैंडा उतना ही बड़ा दिख रहा था, जितना बड़ा अमावस पर चांद दिखता है। इसके बावजूद भी तीनों बड़े खुश थे। गैंडों के खूब ‘फोटो’ खींचे उन्होंने।

जब पार्क से बाहर निकल रहे थे, तो एक ने बड़े काम की बात कही – “यार, घर लौटकर सभी को कैसे भरोसा दिलाएँगे कि इन फोटो में गैंडे भी हैं?”

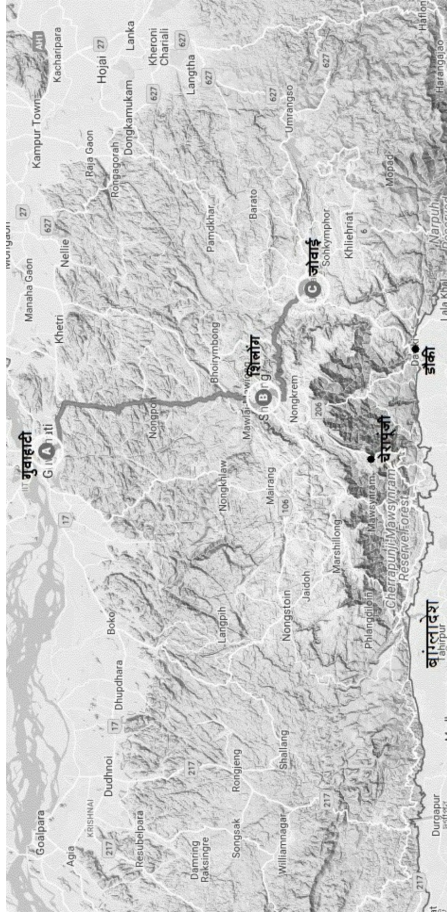
कलियाबोर तक पहुँचते-पहुँचते अंधेरा हो गया। नगाँव बाइपास पर कहीं खाना खाया और रात सवा नौ बजे तक अमेरीगोग पहुँच गए। लेकिन दिन छिपने के बाद 200 किलोमीटर की इस दूरी को तय करने का अनुभव भी अलग ही रहा। जागीरोड़ के आसपास कोहरा मिला। और कोहरा भी ऐसा, जिसने हमें पूरा भिगो दिया। रेनकोट पहनना पड़ा। रुकते तो एक भी बूंद पड़ती नहीं दिखती, लेकिन चलते ही भीगने लगते।

कल हमें दिल्ली के लिए उड़ जाना है, लेकिन अब तक हम पक्का निर्णय कर चुके थे कि मोटरसाइकिल को ट्रेन से नहीं भेजना। और अब जब मोटरसाइकिल गुवाहाटी में है ही और तेजपाल जी की पोस्टिंग भी यहीं है, तो क्यों न मोटरसाइकिल को दो-तीन महीनों के लिए यहीं छोड़ दिया जाए? फरवरी में फिर आएँगे लंबी छुट्टियाँ लेकर और बाकी पूर्वोत्तर घूमेंगे। साथ ही मोटरसाइकिल को चलाकर दिल्ली भी ले जाएँगे।

उस दिन गुवाहाटी में कुछ भी सोच-विचार नहीं किया और मोटरसाइकिल छोड़कर दिल्ली के लिए उड़ गए। दिल्ली जाकर हमारे पास तीन महीने होंगे सोच-विचार करने को।

दूसरी यात्रा

मेघालय और उत्तर बंगाल



6. मेघालय में प्रवेश

6 फरवरी 2018 यानी पूर्वोत्तर से लौटने के ढाई महीने बाद ही हम फिर से पूर्वोत्तर जा रहे थे। मोटरसाइकिल वहीं खड़ी थी और तेजपाल जी पता नहीं उसे कितना चला रहे होंगे। हालाँकि हम चाहते थे कि वे इसे खूब चलाएँ, लेकिन हमें पता था कि ढाई महीनों में यह ढाई किलोमीटर भी नहीं चली होगी। मशीनें भी इंसानों की ही तरह होती हैं। काम नहीं होगा, तो आलसी हो जाएँगी और बाद में उनसे काम लेना मुश्किल हो जाएगा। कभी बैटरी का बहाना बनाएगी, तो कभी कुछ। इसलिए दीप्ति दो दिन पहले चली गई, ताकि अगर जरूरी हो तो वह बैटरी बदलवा ले या अगला पहिया बदलवा ले या सर्विस ही करा ले।

दीप्ति ट्रेन से गई। ट्रेन चौबीस घंटे विलंब से गुवाहाटी पहुँची। इससे पहले दीप्ति ने कभी भी इतनी लंबी ट्रेन-यात्रा अकेले नहीं की थी। वह बोर हो गई।

उधर 6 फरवरी को मैंने जेट एयरवेज की फ्लाइट पकड़ी। और जिस समय आसमान में मेरे सामने नाश्ता परोसा जा रहा था, मैं समझ गया कि यात्रा बहुत मजेदार होने वाली है।

दीप्ति बाइक बहुत अच्छी चला लेती है। चूँकि उसके पास लाइसेंस नहीं है,

इसलिए अमरोहा-मुरादाबाद के अलावा दूसरी किसी जगह पर बाइक नहीं चलाती। लेकिन आज वह अमेरीगोग से जालुकबाड़ी तक अकेली बाइक ले आई। उसकी जिद को देखते हुए मैंने सलाह दी कि जालुकबाड़ी से आगे बाइक मत लाना, क्योंकि एयरपोर्ट नजदीक होने के कारण उस सड़क पर चेकिंग हो सकती है। और हजार-पंद्रह सौ रुपये अपने पास भी रखने की सलाह दी, ताकि अगर बिना लाइसेंस पकड़ी गई, तो चालान कटवा सके। लेकिन जालुकबाड़ी पहुँचने के बाद यह देखकर मेरे होश उड़ गए कि वह मोटरसाइकिल समेत ट्रैफिक पुलिस की गाड़ी के पास खड़ी है और पुलिसवालों से बतिया रही है।

हे भगवान! पता नहीं कितने का चालान कटेगा! वायुयान में फ्री भोजन मिलने से संकेत मिले थे कि यात्रा बेहद मंगलमय होने वाली है, लेकिन यहाँ तो अमंगल के समीकरण दिख रहे हैं।

पास गया तो सब मुझे देखकर बड़े खुश हुए। ट्रैफिक पुलिसवाले भी। तारीफ होने लगी हमारी भी और हमारी इस यात्रा की भी। असल में दीप्ति जालुकबाड़ी आकर व्यस्त चौराहे पर कहीं भी बाइक लेकर रुकने से हिचक रही थी, तो वह ट्रैफिक पुलिस के पास ही जा खड़ी हुई और उनसे कुछ देर वहीं रुकने की अनुमति मांग ली।

संकेत वाकई अच्छे थे। पुलिसवालों ने बड़ी आत्मीयता से बात की और आगे की यात्रा की शुभकामनाएँ दीं।

अब ऐसे में अगर हम माँ कामाख्या के दर्शन न करते तो अशुभ होता। कामाख्या रेलवे स्टेशन के सामने से होते हुए सीधे मंदिर पहुँच गए। थोड़ा-सा प्रसाद लिया और पंडो से बचने की कोशिशें करने लगे।

“बहुत लंबी लाइन लगी है, दादा। हम आपको जल्दी दर्शन करा देंगे।”

मंदिर प्रांगण में भीड़ नहीं थी, इसलिए लग रहा था कि लंबी लाइन तो बिल्कुल भी नहीं होगी। भीड़ होती, तब भी हम पंडों के चक्कर में नहीं पड़ते और अब भी नहीं पड़े। मंदिर में प्रवेश किया। भक्तिमय वातावरण लगा। अंदर एक जालीनुमा द्वार के पास जब पुजारी को प्रसाद दे रहे थे, तो पुजारी के पीछे बहुत सारे श्रद्धालु खड़े दिखे। वे कहाँ से आए हैं अंदर? प्रसाद चढ़ाकर और तिलक लगवाकर और माथा टेककर मंदिर के दाहिने भी देखा और बाएँ भी, लेकिन यह समझ में नहीं आया कि वे श्रद्धालु आए किस रास्ते से। बाद में जब बाहर निकले और चारों ओर निगाहें घुमाईं तो बहुत लंबी लाइन लगी दिखी, जो पता नहीं कहाँ से शुरू हो रही थी और कहाँ खत्म हो रही थी। लेकिन हम माथा टेक चुके थे, इसलिए अब हम इस लाइन में लगने वाले नहीं थे।

और तभी - हमारी नजरों के सामने ही - एक मेमने का सिर अलग, धड़ अलग। माता बलि मांगती है। कैसी माता है री तू! अपने ही बच्चों की बलि!!

फिर वहाँ बैठा ही नहीं गया। एक फोटोग्राफर को कैमरा पकड़ाकर अपने संयुक्त फोटो खिंचवाए और फिर पीछे मुड़कर भी नहीं देखा।

यह माता तो बलि मांगती है!

पांडु घाट जाना था, लेकिन दीप्ति अपने पापा के क्वार्टर की चाबी अपने साथ ले आई थी। वे अब भोजन करने क्वार्टर आने वाले होंगे, इसलिए जल्दी जाना पड़ेगा और पांडु घाट जाने का इरादा त्याग दिया।

आप तो जानते ही हैं कि गुवाहाटी का सबसे पहला रेल संपर्क लामडिंग के रास्ते चटगाँव से वर्ष 1900 से पहले ही हो गया था। लेकिन बाकी देश से यह 1910 के दशक में जुड़ा। ब्रह्मपुत्र के उत्तर में बंगाईगाँव से रंगिया होते हुए रेलवे लाइन अमीनगाँव घाट तक लाई गई। और ब्रह्मपुत्र के दक्षिण में पांडु घाट है। पांडु घाट को गुवाहाटी से जोड़ दिया गया। तो अमीनगाँव घाट और पांडु घाट के बीच फेरी चलती थी, जिससे यात्री ब्रह्मपुत्र पार करते थे। और शायद रेल के डिब्बे भी फेरी में लदकर नदी पार कर जाते होंगे।

बाद में 1962 में सरायघाट पुल बना, जिससे होकर ट्रेनें ब्रह्मपुत्र को पार करने लगीं। इसका नतीजा यह हुआ कि उधर अमीनगाँव घाट और इधर पांडु घाट की उपयोगिता समाप्त हो गई। वर्तमान में कामाख्या स्टेशन से एक लाइन पांडु घाट तक जाती है। शायद माल यातायात के लिए जाती होगी। उम्मीद थी कि पुराने स्टेशन के कुछ अवशेष बाकी होंगे, लेकिन बिना देखे ही लौटना पड़ा।

अब यह भी बता दूँ कि पिछले ढाई महीनों में हमने क्या किया। असल में हमने पूरा मेघालय घूमने और मोटरसाइकिल से ही दिल्ली लौटने की योजना बनाई। पूरा मेघालय मतलब पूरा मेघालय - पश्चिमी भाग में स्थित गारो हिल्स भी। गारो हिल्स 'डिस्टर्ब्ड एरिया' कहा जाता है। इस वजह से हम उधर जाने से हिचक भी रहे थे और इसी वजह से जाना भी चाहते थे। पूरा 'रूट मैप' बना लिया, ताकि उधर किसी भी हालत में देर-सवेर बाइक न चलानी पड़े और रात्रि विश्राम किसी जिला मुख्यालय वाले शहर में ही हो।

इतना काम तो दो-तीन दिनों में ही हो गया। ढाई महीनों के बाकी समय में क्या किया? खाली नहीं बैठे। नागालैंड, मणिपुर, मिजोरम और त्रिपुरा की भी यात्रा कर डालने का मन बनाया। विभिन्न स्थानों की दूरियाँ, ठहरने के स्थान और इनरलाइन पास आदि की जानकारियाँ भी जुटाईं। फिर जैसे-जैसे यात्रा के दिन नजदीक आते गए; नागालैंड, मणिपुर आदि हमारी लिस्ट से हटते गए और मामला केवल मेघालय और दिल्ली के रास्ते में पड़ने वाले उत्तर बंगाल तक ही सीमित रह गया। ऐसा नहीं था कि हमें नागालैंड, मणिपुर से डर लग रहा था, बल्कि हमारी नजरों में ये दोनों राज्य किसी अन्य राज्य के मुकाबले ज्यादा सुरक्षित ही थे। हाँ, अपना सरकारी आईकार्ड नहीं ले जाना, यह मैंने नोट कर लिया था।

7 फरवरी 2018

हमारी मेघालय यात्रा की विधिवत् शुरुआत आज हुई। इससे पहले मैं 2014 में मिजोरम से गुवाहाटी लौटते हुए मेघालय के रास्ते ही आया था। पूरा रास्ता सड़क मार्ग से तय किया था और उस समय सड़क बहुत खराब थी। तो कुल मिलाकर मेघालय की अच्छी छवि मन में नहीं थी। तब यात्रा जनवरी के महीने में की थी और आज फरवरी में। ये दोनों महीने न्यूनतम बारिश के होते हैं।

अमेरीगोग में सड़क पार करते ही मेघालय है। सभी पेट्रोल पंप मेघालय में ही

हैं, क्योंकि यहाँ असम के मुकाबले तेल सस्ता है। खानापारा से जोराबाट और उससे भी आगे तक 12-13 किलोमीटर की सड़क असम और मेघालय की सीमा है। एक तरफ असम, दूसरी तरफ मेघालय। खानापारा तो गुवाहाटी का ही उपनगर है। यह दोनों राज्यों में बँटा है - असम में भी और मेघालय में भी। इधर गुवाहाटी जिला, उधर रि-भोई जिला।

जोराबाट से दाहिने मुड़ गए। चार-लेन की अच्छी सड़क है। मौसम भी अच्छा था। धूप भी अच्छी लग रही थी और बादलों व धुंध का कोई नामोनिशान नहीं था। फिर पहाड़ी इलाका। ऐसी सड़क पर बाइक चलाने का आनंद वो ही महसूस कर सकता है, जिसने कभी चलाई हो। ऊँचाई भी लगातार बढ़ती जा रही थी।

मेघालय असल में एक पठार है, जिसकी औसत ऊँचाई लगभग 1500 मीटर है। यह तकरीबन 350 किलोमीटर लंबाई और 100 किलोमीटर चौड़ाई में फैला है। इसके उत्तर में ब्रह्मपुत्र घाटी है, तो दक्षिण में बांग्लादेश का मैदान। यहाँ ब्रह्मपुत्र समुद्र तल से केवल 100 मीटर ऊपर ही है और बांग्लादेश का मैदान भी 100 मीटर की ही ऊँचाई पर स्थित है। कहने का तात्पर्य है कि इन दोनों के बीच में स्थित मेघालय एक बहुत ऊँची जमीन है और एक पठार है। इसी पठार पर हम चढ़ते जा रहे थे। गुवाहाटी से शिलोंग की सड़क पर यात्रा करते हुए हम 100 मीटर से 1500 मीटर तक जा चढ़ते हैं।

संतरे तो इधर खूब होते हैं। लेकिन मेघालय ने आत्मनिर्भर होना सीख लिया है। सड़क किनारे महिलाएँ संतरे बेचती मिल जाती हैं। एक संतरा बीस रुपये का। यह कुछ महंगा तो था, लेकिन इसमें ठगी बिल्कुल भी नहीं थी।

उमियाम झील। यह असल में एक बांध है जो बिजली बनाने के लिए बनाया गया है। शिलोंग शहर के नजदीक है, तो शहर में पानी की आपूर्ति भी यहीं से होती है। उमियाम नाम की एक नदी भी है, जो पता नहीं कहाँ से निकलती है, लेकिन बहुत दूर तक असम और मेघालय की सीमा बनाने के बाद जागीरोड के पास कोपिली नदी में मिल जाती है। और कोपिली नदी डिगारू के पास ब्रह्मपुत्र में समाहित हो जाती है।

उमियाम के थोड़ा ऊपर सड़क किनारे एक व्यू-पॉइंट बना था। कुछ खाने-पीने की दुकानें भी थीं। गाड़ी खड़ी करने को पार्किंग भी। झील का अच्छा नजारा दिखता है यहाँ से।

शिलोंग शहर में रुकने का कोई इरादा नहीं था। और भारी-भरकम ट्रैफिक को देखकर तो रहा-सहा इरादा भी समाप्त हो गया। लेकिन इसमें भी अच्छी बात यह थी कि अगर गाड़ियों की लाइन लगी है, तो पीछे वाला कभी भी ओवरटेक नहीं करता और होरन भी नहीं बजाता। चुपचाप पीछे खड़ा हो जाएगा और अगली गाड़ी के चलने की प्रतीक्षा करेगा। अगर अगली गाड़ी को चलना ही नहीं है, तो वह दाहिना इंडिकेटर जलाकर पीछे वाले को आगे निकल जाने का इशारा कर देगा। यहाँ हम बाहरियों को यह बात समझनी आवश्यक है कि दाहिने मुड़ने के लिए भी दाहिना इंडिकेटर और पीछे वाले को आगे निकलने देने के लिए भी दाहिना इंडिकेटर।

लेकिन मोटरसाइकिल तो जमकर आगे निकल रही थीं। हम भी आगे निकलते चले गए। हाँ, बेवजह होरन न बजाना बहुत पसंद आया।

शिलोंग से जोवाई रोड़ पर निकल गए। एक जगह लिखा था - शिलोंग पीक दाहिने। हम चल दिए। इरादा था कि वहाँ बैठकर सूर्यास्त देखेंगे और उसके बाद इधर ही कहीं कमरा ले लेंगे।

हवा बड़ी तेज चल रही थी। जंगल भी था। कुछ ही दूर चले कि एक गेट मिला। एयरफोर्स का गेट था यह।

“आज बुधवार है और शिलोंग पीक बंद रहती है।”

“शिलोंग पीक बंद रहती है? मतलब?”

“मतलब ये कि आज के दिन उधर एंट्री बंद रहती है। और वहाँ का मेन रास्ता चैरापूँजी रोड़ से जाता है, यहाँ से नहीं।”

हम वापस मुड़ गए। शिलोंग में एक ही जगह पसंद आई थी और आज वो भी बंद है। इसका मतलब शिलोंग हमारे किसी काम का नहीं।

जोवाई चलो।

शाम हो चुकी थी और हवा भी बड़ी तेज चल रही थी। यह पठारी भूमि के कारण था। पठार में पहाड़ियाँ ज्यादा घनी और ऊँची नहीं होतीं। जैसी भी होती हैं, अच्छी लगती हैं। फिर सड़क भी अच्छी है और हम गाते-गुनगुनाते धीरे-धीरे जोवाई की तरफ बढ़े जा रहे थे।

एक गाँव के पास सड़क किनारे बने एक रेस्टोरेंट में रुक गए। चाय पीनी थी। इसी में परचून की दुकान भी थी और कई महिलाएँ इसे चला रही थीं। हमने हिंदी में कहा - “दो कप चाय।”

सभी का ध्यान हम पर जरूर था, लेकिन हावभाव से पता चल गया कि हमारी बात किसी के समझ नहीं आई। एक लड़की पास आई। हमने इस बार अंग्रेजी में कहा - “टू टी।”

उसने अपनी खासी भाषा में एक बुढ़िया को कुछ कहा और इधर-उधर कहीं चली गई। बुढ़िया हमें देखकर मुस्कुरा पड़ी और पतीले में से मीट के टुकड़े एक कटोरी में निकालने लगी। इससे पहले कि मीट और भात हमारे पास आता, मैं रसोई में गया और चायपत्ती से सने खाली भगोने की ओर इशारा करके बताया कि हमें चाय चाहिए। फिर इशारों में ही बताया कि मीट नहीं चाहिए। बुढ़िया बड़े जोर से हँसी और परचून वाली महिला से कुछ हास-परिहास किया। दोनों हँस पड़ीं। मीट वापस पतीली में उड़ेल दिया और चाय बनाने लगी।

हम वैसे तो शाकाहारी हैं, लेकिन इस तरह के वाक्यों से विचलित नहीं होते। किसी मांसाहारी भोजनालय में बैठकर शाकाहार भोजन भी बे-झिझक कर लेते हैं। फिर यह तो मेघालय है। यहाँ हमें ‘शुद्ध वैष्णों भोजनालय’ नहीं मिलने वाला।

जोवाई पश्चिमी जयंतिया हिल्स जिले का मुख्यालय है। अच्छा-खासा शहर है। एक होटल में गए। साधारण होटल ही था। मालकिन ने हिंदी में किराया बताया - “सत्रह सौ।”

हमने पाँच सौ या ज्यादा से ज्यादा सात सौ - आठ सौ तक का इरादा कर रखा था। सत्रह सौ तो बहुत ज्यादा है। मुझे लगा कि इन्होंने सात सौ ही कहा होगा, लेकिन लहजे के कारण मुझे 'सत्रह सौ' सुनाई पड़ा। या फिर इन्हें हिंदी नहीं आती और हमें देखकर हिंदी बोलने की कोशिश कर रही हैं और भूलवश 'सात' की बजाय 'सत्रह' कह रही हैं।

मैंने दो बार और पूछा। फिर अंग्रेजी में पूछा - "सेवन हंड्रेड?"

"नो, सेवनटीन हंड्रेड।"

मैं वापस मुड़ गया। अब कोई संदेह नहीं रहा कि यह 'सत्रह सौ' ही कह रही हैं। हम मोलभाव भी करते, तो कितना करते? मुड़ते-मुड़ते फिर उन्होंने कैलकुलेटर पर लिखकर दिखाया - 1700...

मैं 'नहीं, नहीं' कहते हुए बाहर निकल गया।

थोड़ा और आगे गए और जोवाई बाजार की भीड़ में घुस गए। बड़ी भीड़ थी। गाड़ियों की लंबी लाइन। पुलिस वाले ट्रैफिक नियंत्रण करते हुए। लेकिन किसी को कोई जल्दी नहीं। और कोई होरन भी नहीं।

1200 का कमरा एक बार कहते ही 800 का हो गया। होटल वाला यहीं जोवाई का ही रहने वाला था, लेकिन हिंदी अच्छी जानता था। पहले मुझे लगा, राजस्थानी होगा।

असल में ढाई महीने पहले हमने असम और अरुणाचल में बहुत सारे राजस्थानी कारोबारी देखे थे। लग रहा था कि मेघालय में भी राजस्थानी कारोबारी मिलेंगे, लेकिन कोई भी नहीं मिला। और न ही बिहारी, बंगाली मिले।

समोसे देखते ही जीभ लपलपा उठी। हमने ऑर्डर भी दे दिया, लेकिन होटल वाला समझदार था - "ये चिकन समोसे हैं।"

हमारी आँखें खुली रह गईं। पूर्वोत्तर में शाकाहारियों को खाने-पीने में सावधान रहना होता है, यह तो हमें पता था; लेकिन समोसे खाने में भी सावधानी दिखानी होगी, यह नहीं सोचा था।

नया अनुभव हुआ।

बाहर सड़क पर भीड़ होने के कारण बाइक नहीं छोड़ सकते थे और न ही होटल में पार्किंग थी। इसका भी बड़ा आसान समाधान निकला।

"बगल में पुलिस स्टेशन है, वहाँ बाइक खड़ी कर आओ।"

आज मेघालय में पहला ही दिन था हमारा। कितने नए अनुभव होंगे! थाने में बाइक खड़ी कर दें!!

हमारे मन में चल रही उथल-पुथल होटल वाले ने पढ़ ली और एक लड़का साथ भेज दिया। बहुत सारी गाड़ियाँ खड़ी थीं, बहुत सारी मोटरसाइकिलें भी खड़ी थीं, हमारी भी वहीं खड़ी हो गई। कोई टोकाटाकी नहीं, कोई पूछताछ नहीं।

रात में खाना खाने के बाद शहर घूमने निकल पड़े। गाड़ियों की लाइनें अभी भी लगी थीं। सभी गाड़ियाँ धीरे-धीरे सरक रही थीं। फुटपाथ भी था सड़क किनारे। फुटपाथ के बाद भरा-पूरा बाजार था। दीप्ति ने इसे मेघालय का 'चांदनी चौक'

कहा। उसका मन लग गया। मेरा भी मन लग गया। हालाँकि शॉपिंग कुछ नहीं की।
“वापसी में शॉपिंग करेंगे।”
और केवल मुझे पता है कि इधर से वापस नहीं लौटना।

8 फरवरी 2018

हम योजना बनाने में नहीं, बल्कि तैयारी करने में विश्वास करते हैं। इस यात्रा के लिए हमने खूब तैयारियाँ की थीं। चूँकि हमारी यह यात्रा मोटरसाइकिल से होने वाली थी, तो मेघालय में सड़कों की बहुत सारी जानकारियाँ हमने हासिल कर ली थीं। गूगल मैप हमारा प्रमुख हथियार था और मैं इसके प्रयोग में सिद्धहस्त था। भारत के प्रत्येक जिले की अपनी वेबसाइट है। इन वेबसाइटों पर उस जिले के कुछ उन स्थानों की जानकारी अवश्य होती है, जिन्हें पर्यटन स्थल कहा जा सकता है।

मेघालय में शिलोंग और चैरापूँजी ही प्रमुख पर्यटन स्थल के रूप में विकसित हैं। इनके आसपास सौ-पचास किलोमीटर के दायरे में भी कुछ स्थान लोकप्रिय होने लगे हैं। लेकिन मेघालय 350 किलोमीटर लंबाई और 100 किलोमीटर चौड़ाई में फैला है। इसमें 11 जिले भी हैं। सबसे पूरब में जयंतिया पहाड़ियों में दो जिले, बीच में खासी पहाड़ियों में चार जिले और पश्चिम में गारो पहाड़ियों में पाँच जिले हैं।

आप अगर एक साधारण यात्री की तरह कुछ सीमित दिनों के लिए मेघालय या किसी भी राज्य में जा रहे हैं और लोकप्रिय पर्यटन स्थानों से हटकर कुछ देखना चाहते हैं, तो जिलों की वेबसाइटें आपको अपने-अपने जिलों के कुछ स्थानों के बारे में बता देंगी। कुछ थोड़ा-सा काम गूगल मैप कर देगा और बाकी काम आपको करना होगा। हमने भी ऐसा ही किया था।

और इस तरह पता चला हमें नरतियंग का। यहाँ एक शक्तिपीठ है और जयंतिया राजाओं का महल भी है। प्रारंभ में महल ने तो उतना आकर्षित नहीं किया, लेकिन शक्तिपीठ ने जरूर आकर्षित किया। जोवाई से नरतियंग 25 किलोमीटर दूर है और अच्छी सड़क बनी है। गूगल मैप देखते-देखते शक्तिपीठ पहुँचे, लेकिन आबादी के बीच स्थित मंदिर के सामने जाकर भी कोई सूचना-पट्ट न पाकर बच्चों से पूछना पड़ा - “मंदिर किधर है?”

बच्चे उत्सुकता से हमें देख रहे थे और खुसर-पुसर कर रहे थे। कोई उत्तर न आने का मतलब था कि इन्हें हिंदी नहीं आती। फिर अंग्रेजी में पूछा - “टेंपल?”

एक लड़के ने इशारा तो किया, लेकिन वह इशारा कम और अंगड़ाई ज्यादा लग रहा था। मुझे तसल्ली नहीं हुई। मोबाइल निकाला और इत्मीनान से गूगल मैप में सैटेलाइट व्यू देखा। सैटेलाइट में हमसे पचास मीटर दूर लाल छत की दो इमारतें दिखाई पड़ीं। उस दिशा में देखा, तो एक खुला दरवाजा दिखा। मोटरसाइकिल यहीं रास्ते में छोड़कर उस दरवाजे में प्रवेश किया, तो हमारे एकदम सामने था एक मंदिर।

नरतियंग दुर्गा मंदिर।

अंदर एक परिवार था। फैले बर्तनों, कपड़ों और उठने-बैठने के हावभाव से लग रहा था कि ये लोग यहीं रहते हैं। औपचारिक बातचीत हुई। ये मंदिर के पुजारी थे, जो सपरिवार यहीं रहते हैं। और कोई भी नहीं था मंदिर में। इन्होंने मंदिर के मुख्य द्वार का ताला खोला और इस तरह हमने एक और शक्तिपीठ के दर्शन किए।

हमेशा की तरह मैं इस मंदिर की भी पौराणिक कहानियाँ सुनाने के मूड में नहीं हूँ। लेकिन यहाँ मेरा मन लग रहा था। हमारे दर्शन कर लेने के बाद पुजारी ने फिर से ताला लगा दिया और मंदिर के पीछे कुर्सी डालकर धूप में जा बैठे। मैं भी उनके पास फर्श पर ही बैठ गया। पुजारी जी तुरंत उठे और हमारे लिए दो छोटे-छोटे मूढे ले आए।

तेज हवा चल रही थी और ठंड अच्छी-खासी थी। इसलिए धूप बड़ी प्यारी लग रही थी। फिर मैं कुछ बातचीत भी करना चाहता था।

गौरतलब है कि मेघालय एक ईसाई-बहुल राज्य है। हिंदू नगण्य हैं। लेकिन हमेशा से तो ऐसा नहीं था। आखिर नरतियंग में जयंतिया राजाओं का ग्रीष्मकालीन निवास था। फिर मेघालय तो बंगाल और असम के बीच में एक छोटी-सी पट्टी-भर है, तो नरतियंग के रास्ते खूब आवागमन हुआ करता होगा।

लेकिन अंग्रेजी काल में खूब धर्म-परिवर्तन हुआ। यह आज भी जारी है। और 1947 में इधर से बंगाल का आवागमन भी बंद हो गया। नरतियंग इतिहास में दफन हो गया। मंदिर को भी कोई पूछने वाला नहीं रहा।

“महाराज जी, नाम क्या है आपका?”

“उत्तम देशमुख।”

“देशमुख? महाराष्ट्र से हो?”

“हाँ जी, 29 पीढी पहले हमारे पूर्वज यहाँ आए थे।”

“29 पीढी... मतलब कम से कम 600 साल पहले?”

“हाँ जी।”

“तो इसका कोई लेखा-जोखा है आपके पास?”

“नहीं, लेखा-जोखा तो नहीं है। बस, सुनते आ रहे हैं हम भी।”

“और मंदिर के क्या हाल चल रहे हैं आजकल?”

“कुछ भी नहीं। यहाँ कोई भी नहीं आता। नवरात्रों में बंगाली लोग आ जाते हैं, बाकी पूरे साल कभी-कभार ही आता है कोई।”

“इस गाँव में हिंदू ज्यादा हैं या ईसाई?”

“सभी ईसाई हैं। हमारे अलावा यहाँ एक भी हिंदू नहीं।”

“तो इस वजह से समस्या नहीं होती आपको?”

“समस्या क्या होगी? रहते आ रहे हैं सभी लोग एक साथ।”

“बच्चों की पढ़ाई किस भाषा में होती है?”

“इंग्लिश।”

“लोकल भाषा में पढ़ाई नहीं होती क्या? जयंतिया या खसिया में?”

“नहीं।”

“लेकिन आपके बच्चे तो हिंदी भी बोल रहे हैं।”

“इन्हें हिंदी हम सिखाते हैं। असम से किताबें लाकर हिंदी पढ़ना सिखाते हैं और

बोलना भी सिखाते हैं।”

“पूरे गाँव में केवल ये तीन बच्चे ही हिंदी जानते होंगे?”

“हाँ जी।”

“उधर रामकृष्ण मिशन का एक पत्थर लगा है।”

“उन्हीं के प्रयासों से यह मंदिर जीवित है अभी तक। अन्यथा न मंदिर होता, न हम होते।”

बस, बातें खत्म हो गईं। मुझे अब कुछ भी नहीं सूझ रहा था कि क्या बात करूँ। और पुजारी भी शांत स्वभाव के ही थे। उन्होंने भी अपनी तरफ से न कुछ बताया, न कुछ पूछा।

उनकी पत्नी बिना दूध की चाय और बिस्कुट दे गईं। चाय पीते-पीते मैं मेघालय के बारे में ही सोचता रहा।

वर्तमान में मेघालय की स्थिति बड़ी विचित्र है। यह उत्तर में असम के मैदान और पश्चिम व दक्षिण में बंगाल के मैदानों से जुड़ा है। पूर्व में असम का पहाड़ी भू-भाग है, जो भौगोलिक रूप से मेघालय से बिल्कुल भी अलग नहीं है। अर्थात् मेघालय की गारो, खासी और जयंतिया पहाड़ियाँ और असम की कछार पहाड़ियाँ बिल्कुल भी अलग-अलग नहीं हैं। सभी के उत्तर में असम का मैदान है और दक्षिण में बंगाल का मैदान। इन पहाड़ियों में भले ही जनसंख्या कम रही हो, लेकिन मैदानी क्षेत्रों में जनसंख्या का घनत्व बहुत ज्यादा है। बंगाल तो दुनिया की सबसे ज्यादा जनसंख्या घनत्व वाली जगहों में से एक है। जाहिर है कि इन पहाड़ियों के आर-पार खूब आवागमन होता था। इसे इसी बात से समझा जा सकता है कि असम और बंगाल को जोड़ने वाली पहली रेल लाइन वर्ष 1900 के आसपास इन्हीं पहाड़ियों के आर-पार बिछाई गई थी। इसके अलावा पैदल रास्ते भी थे और सड़कें भी थीं।

21 जनवरी 1972 को असम के तीन जिलों गारो, खासी और जयंतिया को मिलाकर एक नया राज्य बनाया गया, जिसका नाम रखा गया मेघालय। लेकिन हम यहाँ इतिहास नहीं लिखने वाले। फिलहाल आधा कप चाय समाप्त हो चुकी है और दो बिस्कुट भी खा लिए हैं। इतना होते-होते कुछ और ही बात दिमाग में आ रही है। और वो बात है राज्य का ‘मेघालय’ नाम।

इसका नाम ‘मेघालय’ क्यों रखा गया? यह संस्कृत का एक शब्द है, जिसका अर्थ आपको पता है। इसका जो भी अर्थ है, वह इस राज्य के साथ पूरा न्याय करता है - इस बात में कोई दो-राय नहीं। लेकिन राज्य में तो संस्कृत है ही नहीं। बंगल में मिजोरम है, नागालैंड है - दोनों नाम ही वहाँ की मिजो व नागा जनजातियों के नाम पर रखे गए हैं। लेकिन मेघालय का नाम उस भाषा में क्यों रखा गया, जो वहाँ न बोली जाती है और न ही पढ़ी जाती है? क्या मेघालय वाले इस नाम से खुश हैं? क्या उन्होंने नाम बदलने को लेकर कभी प्रयत्न नहीं किया?

यह बात ठीक है कि संस्कृत सभी भाषाओं की जननी है। तो अगर ‘इंग्लैंड’ का नाम बदलकर ‘आंग्लभूमि’ कर दिया जाए, तो क्या इंग्लैंड वाले इसे स्वीकार

करेंगे? स्वीकार करना छोड़िए, वे तो इसका उच्चारण तक नहीं कर पाएँगे। या दिल्ली का नाम बदलकर किसी ऐसी भाषा में रख दिया जाए, जो वहाँ बोली ही नहीं जाती, तो क्या दिल्ली वाले इसे स्वीकार करेंगे?

हो सकता है कि गारो, खासी या जयंतिया भाषाओं में से किसी एक भाषा में राज्य का नाम रखते, तो दूसरी भाषा वाले फिर 'अपने राज्य' के लिए आंदोलन करते। इस झंझट को समाप्त करते हुए एक 'बाहरी भाषा' में नाम रख दिया हो।

यही मामला 'अरुणाचल' के साथ है।

लेकिन मेघालय में संस्कृत क्यों नहीं है? या बांग्ला क्यों नहीं है? यह छोटा-सा राज्य चारों ओर से असम और बंगाल से घिरा है। असमिया और बांग्ला दोनों ही भाषाएँ एक ही लिपि में लिखी जाती हैं। इतने बड़े असम और बंगाल के बीचोंबीच स्थित इस छोटे-से राज्य में बांग्ला लिपि का नामोनिशान भी नहीं है। बांग्ला लहजा तक नहीं है। जबकि इस राज्य से होकर असम और बंगाल के बीच खूब आवागमन होता था। और तो और, जयंतिया राजाओं की राजधानी जयंतियापुर वर्तमान में बांग्लादेश में है।

अचानक चाय समाप्त हो गई। सब सोच-विचार भी यहीं स्थगित कर देने पड़े। कहीं धूप में बैठकर दूर तक हरी-भरी पहाड़ियाँ देखते हुए फिर से चाय पिएँगे, तो शायद ये विचार फिर से चल पड़ें।

लेकिन यह शोध का विषय हो सकता है। 'नोहकालिकाई', 'माँसमाई', 'नोंगस्टोइन', 'मावफनलूर'... पूरे पठार में ऐसे नामों की भरमार है, जिनका संस्कृत या बांग्ला में कोई अर्थ नहीं निकलता। जबकि पठार के नीचे सीमा के पास 'भोलागंज', 'रानीकोर', 'बाघमारा' आदि नाम संस्कृत और बांग्ला की याद दिलाते हैं। यानी 80-90 किलोमीटर के पठारी भूभाग में अचानक बांग्ला गायब हो जाती है। इधर भी बांग्ला, उधर भी बांग्ला, लेकिन बीच के छोटे-से हिस्से में बांग्ला गायब! क्यों? जनजातियों की अपनी भाषा है, लेकिन कुछ नाम तो बांग्ला में होने ही चाहिए थे और लहजा भी बांग्ला होना ही चाहिए था।

जबकि उधर हिमालय के पहाड़ों में आप कितना भी अंदर चले जाओ, आपको भाषा और बोली भले ही कुछ भी मिले, लेकिन नाम संस्कृत वाले ही मिलते हैं। यहाँ तक कि तिब्बत तक में संस्कृत नाम मिल जाते हैं। क्योंकि वहाँ संस्कृत वालों का आवागमन होता था। जबकि यह तो चारों ओर से बांग्ला से घिरा है।

कहीं ऐसा तो नहीं कि गारो, खासी और जयंतिया पहाड़ियों में किसी बाहरी का आवागमन न होता हो?

फिर ईसाई मिशनरियों का आवागमन कैसे हो गया? सैकड़ों सालों में बांग्ला अपना प्रभाव बिल्कुल भी नहीं छोड़ पाई और मिशनरियों ने अल्प समय में ही इतना बड़ा प्रभाव छोड़ दिया...!

या फिर... मिशनरियों ने ही बांग्ला को बाहर खदेड़ दिया हो!

तो कुल मिलाकर कुछ तो बात है। और जिसने भी 'मेघालय' नाम रखा, बड़े साहस का काम किया।

मंदिर का आखिरी फोटो लेकर हम वापस चल दिए। पास में ही 'मोनोलिथ' हैं। हमें नहीं पता कि 'मोनोलिथ' क्या होता है। इंटरनेट पर भी देखा, लेकिन बात कुछ स्पष्ट नहीं हुई। तो तय कर लिया था कि जहाँ भी 'मोनोलिथ' होंगे, सभी जगह देखते हुए चलेंगे। कभी न कभी तो समझ में आएगा ही।

यहाँ मेघालय टूरिज्म का बोर्ड लगा था, दरवाजा खुला था और कोई भी नहीं था। एक सूचना-पट्ट के अनुसार, यहाँ पूरे राज्य में सबसे ज्यादा 'मोनोलिथ' हैं। इन्हें वर्ष 1500 के आसपास जयंतिया राजाओं के योद्धा मरफलंकी ने किसी जीत की खुशी में बनवाया था।

ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी कहती है - "एक ही पत्थर से बने बहुत बड़े खंबे (विशेषकर प्राचीन युग के निवासियों द्वारा स्थापित) को 'मोनोलिथ' कहते हैं।"

और यहाँ ऐसे बहुत सारे खंबे हैं। बहुत सारी बड़ी-बड़ी मेजों जैसी संरचनाएँ भी हैं, जो पत्थरों की बनी हैं। इनका क्या अर्थ है, हमें नहीं पता। लेकिन अगर ये वर्ष 1500 के आसपास बनाए गए थे, तो इसका अर्थ हुआ कि उस समय यहाँ मिशनरियाँ नहीं आई थीं। निवासी जैसे भी थे, अपने मूल स्वभाव में थे। राजा भी शक्तिशाली रहा होगा। राजधानी जयंतियापुर पठार से नीचे मैदान में थी, वर्तमान सिलहट के पास। जाहिर है कि मैदानी लोगों के साथ भी खूब संपर्क रहा होगा। मैदानी लोग भी यहाँ आते होंगे। बंगाल के नवाबों से दोस्तियाँ भी होती होंगी, झगड़े भी होते होंगे।

फिर अचानक ऐसा क्या हो गया कि...

ओहो! मैं बार-बार उसी मुद्दे पर जा पहुँचता हूँ। मैं कोई इतिहासकार थोड़े ही हूँ कि इन बातों की तह तक जाना है। मैं तो एक यात्री हूँ। जो सामने आता जा रहा है, उसे देखना है; फोटो खींचने हैं; सेल्फियाँ लेनी हैं; फेसबुक आदि पर अपलोड करके दोस्तों को चिढ़ाना है और भूल जाना है।

वापस लौट रहे थे, तो जोवाई से कुछ पहले 'तिरची जलप्रपात' जाने का रास्ता मिला। वैसे तो यह मौसम न्यूनतम बारिश का था और हम पठार के ऊपर थे, इसलिए जलप्रपात में न्यूनतम पानी होगा। फिर भी हम इसे देखने चल दिए। रास्ता समाप्त होने पर खेतों के किनारे मोटरसाइकिल खड़ी कर दी और थोड़ा ही पैदल चलने के बाद जलप्रपात मिल गया। कुछ सीढ़ियाँ नीचे उतरनी पड़ीं और हम प्रपात के नीचे जा पहुँचे। इसमें थोड़ा-सा पानी था। बारिश के दिनों में खूब पानी आता होगा। कुछ और नीचे एक विशाल मैदान दिख रहा था, जिसमें फसल-रहित खेत थे और खेतों में सिंचाई हो रखी थी।

जोवाई पहुँचकर पराँठे, आलू की सब्जी और एक-एक रसगुल्ला खाया। यही नाश्ता भी था और लंच भी। और सभी लोग हमेशा मांसाहार नहीं करते। यहाँ इस समय ज्यादातर लोग स्थानीय ही थे और वे भी आलू की सब्जी के साथ पराँठे ही खा रहे थे।

ग्यारह बज चुके थे। होटल से 'चेक-आउट' करके डौकी की ओर चल दिए।

8. डौकी में भारत और बांग्लादेश

जोवाई से डौकी जाने के लिए जिलाधिकारी कार्यालय के सामने से दाहिने मुड़ना था, लेकिन यहाँ बड़ी भीड़ थी। मेघालय में चुनावों की घोषणा हो चुकी थी और नामांकन आदि चल रहे थे। उसी के मद्देनजर शायद यहाँ भीड़ हो। भीड़ इतनी ज्यादा थी कि हमें दाहिने डौकी की ओर जाता रास्ता नहीं दिखा और हम सीधे ही चलते रहे। हालाँकि भीड़ एकदम शांत थी और शोर-शराबा भी नहीं था।

आगे निकलकर एक महिला से रास्ते की दिशा में इशारा करके पूछा - “डौकी?”

उन्होंने अच्छी तरह नहीं सुना, लेकिन रुक गईं। मैंने फिर पूछा - “यह रास्ता डौकी जाता है?”

“इधर डौकी नाम की कोई जगह नहीं है।” उन्होंने टूटी-फूटी हिंदी-अंग्रेजी में कहा।

हमें नहीं पता था, ये लोग ‘डौकी’ को क्या कहते हैं। मैंने तो अंग्रेजी वर्तनी पढ़कर अपनी सुविधानुसार ‘डौकी’ उच्चारण करना शुरू कर दिया था।

“डावकी?”

“नहीं मालूम।”

“डाकी?”, “डकी?”, “डेकी?”, “डूकी?”, “डबकी?” हर संभावित उच्चारण बोल डाला, लेकिन उन्हें समझ नहीं आया। आखिरकार गूगल मैप का सहारा लेना पड़ा। तब पता चला कि हम दूसरे रास्ते पर आ गए हैं।

जोवाई से डौकी का रास्ता बेहद शानदार बना है। ट्रैफिक तो था ही नहीं। दूरी लगभग 70 किलोमीटर है। हवा बड़ी तेज चल रही थी और सीधे मुँह पर लग रही थी। यानी बांग्लादेश की तरफ से हवा आ रही है। इससे मुझे आशंका हुई कि जब हम पठार छोड़कर नीचे उतरेंगे, तब घने बादल मिलेंगे।

और घोषणा भी कर दी - “आखिरी 15 किलोमीटर हमें घने बादल मिलेंगे।”

दीप्ति ने पूछा - “तुझे कैसे पता?”

“देख लेना। बाद में बताऊँगा।”

और यह अलग बात है कि पूरे रास्ते न बादल मिले, न बादल का बच्चा।

जोवाई से निकलकर थोड़ा ही आगे सड़क के एकदम किनारे कुछ गुफाएँ दिखीं। रुकना पड़ा। यहाँ कोई भी नहीं था। यह शायद कोई खदान रही होगी। कुछ ही समय पहले सुप्रीम कोर्ट ने मेघालय में हर तरह के खनन पर रोक लगाई थी, इसलिए अब यहाँ कुछ भी नहीं हो रहा था। हम इनके अंदर गए तो हैरान रह गए। जमीन के अंदर ही अंदर पूरा साम्राज्य था। सैकड़ों आदमी अंदर आ सकते थे। जब दिखना ही बंद हो गया, तो हम वापस मुड़कर बाहर निकले। फिलहाल तो यह सुरक्षित नहीं थी, बारिश आदि में धँस भी सकती है; लेकिन इसकी सुरक्षा जाँच करके इसे ‘पर्यटन स्थल’ बनाया जा सकता है।

एक पुल मिला और मोटरसाइकिल रोक दी। दाहिनी तरफ एक छोटा-सा जलप्रपात था और बाईं ओर इसी नदी पर पत्थरों का एक पैदल-पुल था। इस बात में कोई संदेह नहीं था कि पैदल-पुल बहुत पुराना है। इसके बारे में इंटरनेट पर कहीं पढ़ने को मिला कि इसे जयंतिया राजाओं ने बनवाया था और यह नरतियंग से जयंतियापुर जाने के पैदल रास्ते पर स्थित था। फिलहाल हम इसी के समांतर जिस सड़क पर चल रहे थे, वह जोवाई से डौकी की सड़क थी अर्थात् नरतियंग से जयंतियापुर की सड़क। डौकी में सीमा पार करते ही बांग्लादेश के भीतर जयंतियापुर है।

अमलारेम से कुछ पहले एक सूचना-पट्ट लगा था - क्रांगशुरी वाटरफाल। एक किलोमीटर कच्चे रास्ते पर चलना पड़ा और रास्ता समाप्त हो गया। चाय की दो दुकानें थीं और दो गाड़ियाँ भी खड़ी थीं। आगे पैदल जाने का रास्ता था।

तकरीबन एक किलोमीटर पैदल चलने और सौ मीटर नीचे उतरने के बाद चालीस-चालीस रुपये की पर्ची कटी। इस स्थान ने हमारा जी खुश कर दिया। बहुत सारे और भी यात्री थे, जो स्थानीय ही थे। बाहरी केवल हम ही थे।

इस जलप्रपात का वर्णन करने में मैं असमर्थ हूँ। चाहे कुछ भी लिख दूँ, इसकी खूबसूरती तक नहीं पहुँच सकते। पानी कम था, लेकिन एकदम नीला पारदर्शी था। प्रपात के पीछे एक बड़ी गुफा थी, जिसमें बैठकर सामने पानी गिरते हुए देखना और आवाज सुनना अलौकिक होता है।

मेघालय जलप्रपातों और गुफाओं का प्रदेश है। और अगर कहीं ये दोनों चीजें एक साथ मिल जाएँ, तो समझ जाना कि जन्नत वहीं है।

मेघालय में चुनावी बिगुल बज चुका था और अब सभी दल प्रचार करने में लगे हुए थे। ऐसे ही किसी दल के समर्थक गाड़ियों में भरकर हुड़दंग मचाते हुए और शोर-शराबा करते हुए रैलियाँ निकाल रहे थे। शराब की बोतलें खाली की जा रही थीं। जिस गाँव में भी जाते, वहाँ डी.जे. पर बड़ी देर तक सब नाचते रहते।

डौकी से पाँच-छह किलोमीटर पहले ही ट्रकों की लाइन मिलने लगी। ये सभी ट्रक बांग्लादेश जाएँगे। यहाँ अच्छा-खासा ढलान है, क्योंकि इन 15-20 किलोमीटर में हम पठार से मैदान तक आ जाते हैं। गर्मी भी लगने लगी थी। अब हम समुद्र तल से ज्यादा ऊपर नहीं थे।

सबसे पहले पहुँचे उमगोट नदी के पुल पर। उमगोट नदी अपने पारदर्शी पानी के लिए प्रसिद्ध है। हम भी इसी के लालच में यहाँ आए थे, ताकि पारदर्शी पानी पर चलती नावों के फोटो ले सकें और बाद में अपने मित्रों में प्रचारित करें कि यहाँ नावें हवा में चलती हैं।

“बोटिंग करनी है जी?” पुल के पास ही एक लड़के ने पूछा।

“नहीं, लेकिन यह बताओ कि यहाँ होटल कहाँ हैं?”

और कुछ ही देर में हम एक नाव में बैठे थे और उमगोट की धारा के विपरीत जा रहे थे। हमारा सारा सामान भी हमारे साथ ही था, सिवाय मोटरसाइकिल के। मोटरसाइकिल उस लड़के के घर पर खड़ी थी, जो यहाँ से थोड़ा ऊपर था। लड़के ने

अपने घर से इशारा करके बताया था - “वो बांग्लादेश है।”

“वो मतलब? कहाँ?”

मुझे पता तो था कि सारा मैदानी इलाका बांग्लादेश है, लेकिन जमीन भारत से बांग्लादेश में कब बदल जाती है, यह देखने की उत्सुकता थी।

“वो सामने जितनी भी मशीनें चल रही हैं, सभी बांग्लादेश में हैं। और वो सूखी नदी भी बांग्लादेश में ही है। यह पहाड़ भारत में है और जैसे ही पहाड़ समाप्त होता है, एकदम बांग्लादेश शुरू हो जाता है।”

मैं बड़ी देर तक इस नजारे को देखता रहा। बहुत सारी मशीनें आवाज करती हुईं और धूल उड़ती हुईं काम कर रही थीं। शायद पत्थर तोड़ रही थीं।

तो हम नाव में बैठकर नदी की विपरीत दिशा में जा रहे थे और एक ‘कैंप साइट’ पर पहुँच गए। उमगोट नदी के किनारे की रेत में कुछ टेंट लगे थे, एक हमें दे दिया गया। बहुत सारे खाली टेंट भी थे।

एक कुत्ता मुर्गे के साथ खेल रहा था। लेकिन मुर्गे के तोते उड़े पड़े थे। उसे लग रहा था कि कुत्ता उसे छोड़ेगा नहीं। वह बार-बार कुत्ते को चकमा देकर इधर-उधर बच जाता और इसी में कुत्ते को मजा आ रहा था। मुर्गा बड़ा शोर कर रहा था। अपनी जान बचाने के चक्कर में मुर्गा एक खाली टेंट में जा घुसा। एक-दो बार मुर्गा फड़फड़ाया भी, लेकिन बाहर निकलने का रास्ता न देख आवाज भी बंद कर दी और फड़फड़ाना भी। कुत्ते ने उत्सुकतावश टेंट में झाँककर देखा, लेकिन उसे मुर्गा नहीं दिखाई पड़ा। फिर कुत्ता रेत में जाकर लेट गया। और दो-तीन घंटे बाद अंधेरा हो जाने पर जब कुछ यात्री आए और टेंट उन्हें दिया गया, तब उसमें से मुर्गे को बा-मशक़्त बाहर निकाला गया।

उत्तर में श्नोगण्डेंग गाँव की लाइटें दिख रही थीं। यह नदी उसी गाँव के पास से आती है।

शाम को नदी किनारे जा बैठे। मछलियाँ बहुत थीं और पैर डालते ही आकर गुदगुदी करने लगतीं। और साफ पानी इतना कि क्या कहने!

पूरी रात ट्रकों के ब्रेकों की चरमराहट सुनाई देती रही। नदी के उस पार कुछ ऊपर जोवाई वाली सड़क थी। ढलान है ही। बांग्लादेश जाने वाले ट्रक लाइन में खड़े थे। धीरे-धीरे बारी आती है, तो ट्रक धीरे-धीरे रुकते-रुकते चलते हैं और ब्रेकों की आवाजें अनवरत आती रहती हैं।

9 फरवरी 2018

सुबह-सुबह ही वो नाववाला आ गया, जो कल हमें यहाँ छोड़कर गया था। आज वह हमें उमगोट नदी में नौका विहार कराएगा। हमें वैसे तो नौका विहार में कोई दिलचस्पी नहीं थी, लेकिन यह नदी इतनी प्रसिद्ध हो चुकी है कि नौका विहार का मन करने लगा। जब भी आप कभी इंटरनेट पर ऐसा कोई फोटो देखें, जिसमें इतना पारदर्शी पानी हो कि नाव हवा में चलती दिखती हो, तो बहुत ज्यादा संभावना है कि वह यही नदी होगी। लेकिन ऐसा फोटो लेने की भी एक तकनीक है। वो यह कि धूप निकली हो और नाव की परछाई नाव से बिल्कुल

अलग होकर नदी की तली में दिख रही हो। साथ ही हवा एकदम शांत हो और पानी पर लहरें न बन रही हों।

“बांग्लादेश चलेंगे सर?” अचानक नाववाले ने ऐसी बात कह दी, जो अप्रत्याशित थी।

“क्या? बांग्लादेश?”

“हाँ जी, उधर झाल-मूड़ी खाकर आएँगे।”

यह सुनकर मेरे मन में उथल-पुथल मचना स्वाभाविक ही था। यह नदी कुछ ही आगे जाकर बांग्लादेश में प्रवेश कर जाती है। यानी बांग्लादेश की सीमा कहीं पर इस नदी को आर-पार काटती है। लेकिन पानी तो किसी सीमा को मानता नहीं है। और न ही पानी पर तारबंदी की जा सकती है। कहीं ऐसा तो नहीं कि उस सीमा के पार दो-चार मीटर जाकर वापस भारत में आ जाते हों। लेकिन यह तो झाल-मूड़ी भी खाकर आने को कह रहा है। यानी किनारे पर उतरना पड़ेगा।

“और अगर बांग्लादेश की पुलिस ने पकड़ लिए तो?”

“नहीं सर, कुछ नहीं होता।”

मैं समझ नहीं पा रहा था कि क्या कहूँ। नाववाला यहीं का रहने वाला है, वो हमारे साथ कुछ गलत थोड़े ही होने देगा?

लेकिन अगर गलत हो ही गया तो? बांग्लादेश में तो वह भी विदेशी ही कहलाएगा।

“हाँ, चलेंगे।” काफी सोच-विचार के बाद मैंने सहमति दे दी।

गूगल मैप खोल लिया और अपने व सीमा के बीच की दूरी को कम होते देखने लगा। एक स्थान ऐसा आएगा, जब हम नक्शे में दिख रही काली अंतर्राष्ट्रीय रेखा को पार कर जाएँगे।

नदी के इसी किनारे पर्यटकों की भीड़ थी। पास गए तो बी.एस.एफ. के जवान भी खड़े दिखे। इसका मतलब यह भारत ही है। नाववाले ने नाव भी यहीं किनारे पर लगा ली। नाव से उतरे, तो नक्शा बता रहा था कि केवल बीस मीटर आगे ही बांग्लादेश की सीमा नदी पार कर जाती है, अर्थात् नदी बांग्लादेश में प्रवेश कर जाती है और यही किनारा बांग्लादेशी किनारा बन जाता है। इसका अर्थ हुआ कि बीस मीटर के बाद जो लोग खड़े हैं, वे बांग्लादेश में खड़े हैं।

नाववाला हमें रुकने को कहकर बी.एस.एफ. वाले के पास चला गया और कुछ बातें करने लगा। हावभाव से लग रहा था कि बी.एस.एफ. वाले ने मना कर दिया। नाववाला मायूस लौट आया - “आज ये लोग मना कर रहे हैं। कोई साहब आने वाले हैं।”

लेकिन हमें इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ा। चंद कदम दूर ही बी.जी.बी. यानी बांग्लादेशी गार्ड खड़े थे। किसी तरह की कोई हड़बड़ी नहीं। कोई तारबंदी नहीं। मैंने गौर से नदी किनारे के पत्थरों को देखा, ताकि किसी सीमा-रेखा का एहसास हो सके, लेकिन ऐसा कुछ नहीं मिला।

फिर मैं बी.एस.एफ. के एक जवान के पास गया - “रामराम साब।”

“रामराम।”

“अच्छा, ये बताइए कि वास्तविक सीमा कहाँ है?”

“देखो, वो उधर पेड़ है। फिर उधर वो बड़ा-सा पत्थर है और वहाँ नदी पार करके वो चट्टान है, यही सीमा है।”

“तो यहाँ पर इधर से उधर जाना हो जाता है क्या? नाववाला बता रहा था कि उधर जाकर झालमूड़ी खा सकते हैं।”

“हाँ, नोर्मली चले जाते हैं और खा-पीकर लौट आते हैं। फ्रेंडली बॉर्डर है यहा। लेकिन आज डी.आई.जी. साहब आ रहे हैं, तो थोड़ी सख्ती है।”

“उधर बड़ी भीड़ है और हमारे यहाँ एक-दो ही यात्री हैं। क्या बात है?”

“आज जुम्मा है। उनकी छुट्टी होती है आज, तो वे हिल स्टेशन देखने आते हैं। जबकि हमारे यहाँ रविवार को भीड़ होती है।”

अद्भुत नजारा था। केवल मान रखा है कि यह सीमा है। नदी के क्षेत्र में होने के कारण यहाँ ‘बॉर्डर पिलर’ भी नहीं हैं। केवल एक बड़ा पत्थर है, जिसे सीमा मान लिया है। उस पत्थर पर चढ़कर बांग्लादेशी यात्री फोटो खींच रहे हैं। बी.एस.एफ. और बी.जी.बी. वाले आपस में तमाखू रगड़ते हुए बातचीत कर रहे हैं। बांग्ला उधर भी, बांग्ला इधर भी। हिंदी वालों का आमार-तोमार करके काम चल जाता है। उधर कई दुकानें हैं, जो खाने-पीने से ही संबंधित हैं। वहाँ तक हम जा सकते थे।

उधर यात्रियों की भीड़ बढ़ती जा रही है। जानकारी और स्पष्ट सीमा-रेखा न होने के कारण कुछ यात्री भारत में आने लगते हैं। बी.एस.एफ. वाला उन्हें वापस भेज देता है - “ओए, उधर ही रहो।”

“मैं तो इंडियन ही हूँ, साब जी।” एक स्थानीय खसिया आदमी ने भारत में आते हुए कहा।

“तो उधर क्या कर रहा है? आओ इधर।”

फिर मैंने और बातचीत शुरू कर दी - “यहाँ तो ज्यादा सिरदर्दी नहीं रहती होगी?”

“हर जगह की अपनी सिरदर्दी है। लेकिन खुले बॉर्डर की अपनी अलग सिरदर्दी होती है। बांग्लादेश में पत्थर नहीं होते और सीमेंट बनाने के लिए उन्हें पत्थर चाहिए। तो वे लोग यहाँ से तस्करी करते हैं। रात के अंधेरे में नावें लेकर आते हैं और खूब भीतर तक जाकर पत्थर लाते हैं। गहरी घाटी होने के कारण उनका पता भी नहीं चलता। वहाँ पत्थर अठारह रुपये किलो तक बिकता है।”

“तो यहाँ तारबंदी नहीं है क्या?”

“काम चल रहा है, लेकिन नदी के पाट में तारबंदी नहीं होगी। अगर कर भी देंगे तो बारिश में नदी सब बहाकर ले जाएगी।”

मैं आज पहली बार बांग्लादेशी सीमा को देख रहा था। बहुत रोचक अनुभव था। यहाँ मैं पूरे दिन बैठ सकता था। दो-तीन बकरे बांग्लादेश से भारत में आ जाते। घूमते रहते। उन्हें क्या पता किसी सीमा का! यह तो हम इंसानों की बनाई हुई है, बकरो की बनाई थोड़े ही है? फिर उनका मालिक उन्हें बुलाने भारत आ

जाता। जवान या तो मालिक को भारत आकर बकरा ले जाने देता या खुद ही बांग्लादेश में खदेड़ देता।

बांग्लादेश में एक-दो खच्चर सजे-धजे खड़े थे। उनके मालिक इस प्रतीक्षा में थे कि कोई यात्री इनकी सवारी करेगा और दो-चार टके का इंतजाम हो जाएगा।

एकदम सीमा पर बांग्लादेश के अंदर एक बड़ी आलीशान कुर्सी रखी थी। यात्री उस पर बैठकर और मेघालय के पहाड़ों व डौकी के झूले पुल को बैकग्राउंड में रखकर फोटो खिंचवाते। धक्कामुक्की में कई बार वो कुर्सी भारत में आ जाती। इससे यात्रियों को भला क्या फर्क पड़ता! लेकिन बी.जी.बी. वाले उसे फिर से अपने देश में खींच लेते।

बांग्लादेश में केवल चटगाँव की तरफ ही पहाड़ियाँ हैं। लेकिन वो इलाका म्यांमार से मिलता है और अशांत है। इसलिए बांग्लादेशी यात्री पहाड़ देखने, हिल-स्टेशन देखने यहाँ आते हैं। वे भले ही पहाड़ों को स्पर्श तक न कर सकें, लेकिन भरपूर आनंद जरूर लेते हैं। बांग्लादेश में इसका नाम जाफलोंग है।

लेकिन एक कमी है। बांग्लादेश में पत्थर माफिया बहुत सक्रिय है। जाफलोंग में ही नदी किनारे बहुत सारी क्रशर मशीनें लगी हैं और लगातार शोर होता रहता है व धूल उड़ती रहती है। मानसून में जब नदी उफान पर होती होगी, तो इसमें पत्थर भी खूब बांग्लादेश जाते होंगे। तब तो वहाँ बड़े-बड़े जाल लगाकर मछलियों की तरह पत्थरों को पकड़ा जाता होगा।

नाववाला जब बेचैन हो गया, तो नाव में बैठना पड़ा। उसने दूसरे किनारे पर उतार दिया। कुछ ऊपर उसके गाँव जाकर मैं मोटरसाइकिल ले आया। हवा तेज चल रही थी, जिसके कारण नदी में लहरें बन रही थीं। लेकिन फिर भी हमने एक-दो ऐसे फोटो जरूर ले लिए, जिनके कारण डौकी प्रसिद्ध है।

अब बारी थी तामाबिल बॉर्डर जाने की। यहाँ से सड़क सीमा पार करके बांग्लादेश चली जाती है। ट्रक भी यहीं से जाते हैं। पता चला कि ट्रकों का दो घंटे का पास बनता है। इन दो घंटों में उन्हें बांग्लादेश सीमा के भीतर जाकर सारा माल उतारकर वापस भारत लौटना होता है।

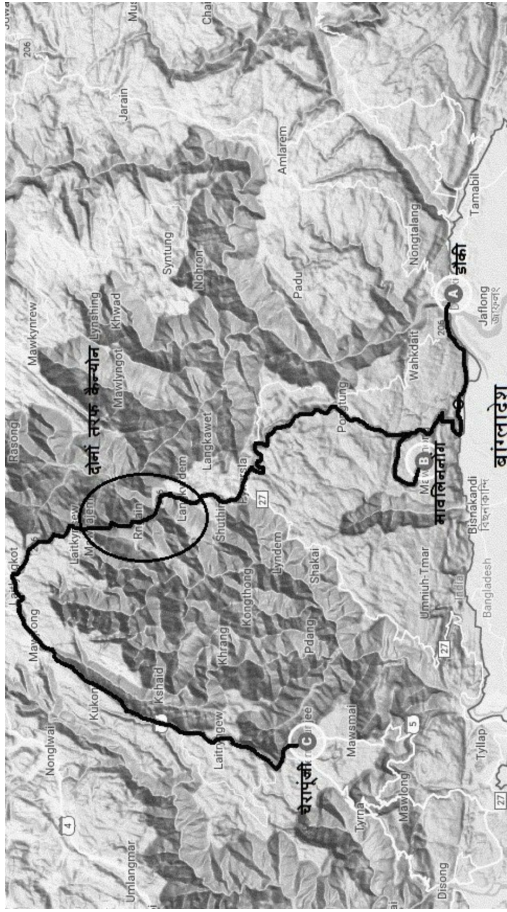
तभी ढाका नंबर की एक बस सीमा पार करती दिखी। यह ढाका से आती है और शिलोंग तक जाती है। दो दिनों तक शिलोंग में ही खड़ी रहती है और तब तक यात्री गुवाहाटी आदि घूमकर आ जाते हैं।

“बॉर्डर पार करते समय अपने पासपोर्ट हाथ में रखो।” बॉर्डर पिलर के पास खड़े एक फौजी ने बांग्लादेश जा रहे यात्रियों से कहा।

यहाँ ‘भारत में स्वागत है’ का एक द्वार था और उधर भी ऐसा ही एक द्वार था। दोनों के ठीक बीच में बॉर्डर पिलर था। हम ठीक पिलर तक जा सकते थे। तारबंदी का भी काम चल रहा था।

‘भारत की आखिरी दुकान’ पर लस्सी पीने का अलग ही आनंद था। इसे फौजी ही संचालित करते हैं।

चलते-चलते बारह बज गए। डौकी समुद्र तल से ज्यादा ऊपर नहीं है, इसलिए इस समय तक गर्मी हो गई थी और उड़ती धूल के कारण बेचैनी भी हो रही थी।



9. एक अनजाने गाँव में

रात तक हमारा इरादा चैरापूंजी पहुँचने का था। वैसे तो चैरापूंजी यहाँ से लगभग 80 किलोमीटर दूर है, लेकिन हमने एक लंबे रास्ते से जाने का इरादा किया। डौकी पुल पार करने के दो किलोमीटर बाद यह मुख्य सड़क तो सीधी चली जाती है और एक सड़क बाएँ जाती है, जो रिवाई होते हुए आगे इसी मुख्य सड़क में मिल जाती है। रिवाई के पास ही मावलिनखंग गाँव है, जो एशिया का सबसे साफ-सुथरा गाँव माना जाता है। इसके आसपास भी कुछ दर्शनीय स्थान हैं। उन्हें देखते हुए हम चैरापूंजी जाएँगे।

तो रिवाई का यह रास्ता बांग्लादेश सीमा के एकदम साथ-साथ चलता है। रास्ता तो पहाड़ पर है, लेकिन बीस-तीस मीटर नीचे ही पहाड़ समाप्त हो जाता है और मैदान शुरू हो जाता है। मैदान पूरी तरह बांग्लादेश में है और पहाड़ भारत में। अर्थात् हम अंतर्राष्ट्रीय सीमा से केवल बीस-तीस मीटर दूर ही चल रहे थे।

यहीं सड़क से जरा-सा नीचे सोंग्रामपुंजी जलप्रपात भी है। चूँकि जलप्रपात एकदम सीमा पर है, तो बांग्लादेशी खूब आते हैं यहाँ। इस जलप्रपात की गिनती

बांग्लादेश के प्रमुख प्रपातों में होती है।

और थोड़ा आगे चलने पर बोरहिल प्रपात मिला। एकाध बूंद ही पानी टपक रहा था इस समय तो, लेकिन मानसून में जबरदस्त लगता होगा। इस प्रपात का भी निचला सिरा बांग्लादेश में है, तो अवश्य ही नीचे बांग्लादेशी यात्री भी खूब आते होंगे।

कैसा अद्भुत अनुभव होता होगा! प्रपात का ऊपरी सिरा भारत में और निचला सिरा बांग्लादेश में। हमें मानसून में आने का बहाना मिल गया।

इस रास्ते में कुछ यात्री भी आते-जाते मिले, जो निश्चित ही मावलिननोंग से आ रहे होंगे। उन्हें देखकर हमारा भी उत्साह बढ़ गया। अन्यथा लग रहा था कि गुमसुम-सा गाँव होगा और गाँव के कुत्ते हमें खदेड़ देंगे।

मावलिननोंग से दो किलोमीटर पहले एक पार्किंग थी और लिखा था - लिविंग रूट ब्रिज। अर्थात् जीवित पेड़ों की जड़ों का पुल। इसे देखने का मन हो गया। और भी गाड़ियाँ खड़ी थीं। कई दुकानें भी थीं। गौरतलब है कि यह स्थान पर्यटन नक्शे में नहीं है, हालाँकि अब कुछ यात्री जाने लगे हैं। ज्यादातर यात्री मेघालय के ही थे। हमें हर जगह मेघालय के यात्री मिले। खूब घूमते हैं। दो-तीन बंगाली भी मिले। कुछ विदेशी भी मिले। आपको शायद इस स्थान की जानकारी न हो। हमें भी नहीं थी, अचानक सामने आ गया तो रुक गए। हम तो बस मेघालय के इस अनजान इलाके में यूँ ही घूम रहे थे।

यह नोहवेट गाँव का हिस्सा है। घर एकदम साफ-सुथरे और उनसे भी साफ-सुथरी गलियाँ। हर घर के सामने बाँस के बने कूड़ेदान। न कोई कूड़ा, न कोई प्लास्टिक। कई घर होम-स्टे की सुविधा भी प्रदान करते हैं। हमारा यहीं रुकने का भी मन करने लगा।

पक्की गलियों से होते हुए 'लिविंग रूट ब्रिज' की ओर बढ़े तो ढलान मिलने लगा। पार्किंग से दूरी करीब आधा किलोमीटर है। पुल के पास दस-दस रुपये की पर्ची कटी। चेतावनी लिखी थी कि पुल पर रुकना मना है। इसके लिए दो लड़के बैठे थे, जिनका काम किसी को रुकते देखते ही सीटी बजा देना था।

लिखा था कि रबड़ के ये दो पेड़ 1840 में लगाए गए थे और फिर इनकी जड़ों को सुनियोजित तरीके से इस तरह बुना गया कि उस पेड़ की जड़ें इधर तक आ गईं और इस पेड़ की जड़ें उधर तक चली गईं। हालाँकि यह पुल कमजोर तो नहीं था, लेकिन फिर भी किसी को रुकने नहीं दिया जा रहा था। नदी में पानी बहुत कम था, इसलिए नीचे नदी में भी उतरा जा सकता था।

उस समय उन लोगों ने क्या सोचकर ऐसे पुल बनाए होंगे? पर्यटन के बारे में निश्चित ही नहीं सोचा होगा। मेघालय में ऐसे बहुत सारे पुल हैं।

ढाई बज चुके थे और दिन छिपने में अभी डेढ़ घंटा बाकी था। मैं इस स्थान से बड़ा प्रभावित हुआ। रुकना भी चाहता था और आगे भी बढ़ना चाहता था। हालाँकि मैं इस तरह की दुविधा में कम ही पड़ता हूँ, लेकिन आज दुविधा में था। यहाँ रुकें या चेरापूँजी चले। फिर सबकुछ समय पर ही छोड़ दिया। जो हो रहा है, होने दो।

मोटरसाइकिल स्टार्ट की और मावलिननोंग की ओर चल दिए। गाँव में प्रवेश करते ही दो लड़कों ने रुकने को कहा और एक पर्ची आगे बढ़ा दी।

“यह क्या है?”

“एंट्री फीस।”

“गाँव में आने की एंट्री फीस लगती है क्या?”

“हाँ जी।”

“नहीं, हम वापस जा रहे हैं।”

और इस तरह एशिया के सबसे सुथरे गाँव में जाना भी रह गया और अभी तक जो दुविधा मन में चल रही थी, वो भी समाप्त हो गई। मुझे इन पर्चियों से कोई समस्या नहीं है। आगे चलकर हम और भी बहुत सारी पर्चियाँ कटवाने वाले थे, तो बाद में इनकी अहमियत पता चली। लेकिन फिलहाल भी बुरा नहीं लगा। गाँव में यात्री आ रहे हैं, तो उनसे दस-दस, बीस-बीस रुपये इकट्ठा करना स्वरोजगार के लिहाज से उचित भी है। और हम इस पैसे का सदुपयोग होते देख भी रहे थे। अभी नोह्वेट गाँव ने बड़ा प्रभावित किया था। जनप्रतिनिधि आपकी सड़कें ठीक कर देंगे, कूड़ा निस्तारण का उपाय कर देंगे, बिजली की व्यवस्था कर देंगे; लेकिन जब तक एक-एक आदमी साफ-सफाई की महिमा नहीं समझेगा, तब तक सफाई नहीं हो सकती।

यहीं बगल में सड़क किनारे एक ‘बैलेंसिंग रॉक’ है। सड़क से यह नहीं दिखती। बाड़ लगा रखी है। काउंटर बना है। दस-दस रुपये। एक बहुत बड़ी चट्टान एक छोटी-सी चट्टान के ऊपर अद्भुत तरीके से संतुलित होकर रखी हुई है।

और अब तक पक्का हो गया था कि चैरापूँजी चलना है। समय हुआ था ढाई से पाँच मिनट ऊपर।

पिनुर्सला रुके। यह एक कस्बा है - समुद्र तल से 1400 मीटर ऊपर। अच्छी-खासी सर्दी थी। सड़क शानदार थी ही। पठारी भू-भाग पर स्थित इस सड़क ने दिल जीत लिया। पिनुर्सला से थोड़ा ही पहले एकदम सुनसान में एक रेस्टोरेंट मिला। इसकी लोकेशन बड़ी पसंद आई। चाय और चाउमीन। अब आप यह मत कहना कि चाय और चाउमीन का भला क्या मेल!

साढ़े चार बजे पिनुर्सला पार हुआ तो सूरज पश्चिम में चरम तक जा चुका था और पूरा लाल हो गया था। लेकिन 14-15 किलोमीटर की दूरी तक यह सड़क ‘कैन्योन’ के ऊपर से गुजरती है। साँय-साँय ठंडी हवा चल रही थी और दस्ताने पहनने पड़ गए थे। इस इलाके से गुजरना जिंदगी-भर याद रहेगा। जल्दी ही दोबारा मेघालय आऊँगा और फिर से इस सड़क से गुजरूँगा।

चलिए, अब थोड़ा-सा भूगोल का ज्ञान झाड़ देते हैं। आप मेघालय के नक्शे को गौर से देखिए। इसके उत्तर में ब्रह्मपुत्र है, जो समुद्र तल से तकरीबन 100 मीटर ऊपर है। और दक्षिण में बांग्लादेश है और यह भी लगभग 100 मीटर ऊपर ही है। इनके बीच में मेघालय है, जो अधिकतर 1500 मीटर ऊँचा है। कल्पना कीजिए, किसी समय प्राचीन काल में मेघालय मिट्टी और चट्टानों का 1500 मीटर ऊँचा, 300 किलोमीटर लंबा और 100 किलोमीटर चौड़ा अत्यधिक विशाल टीला था।

फिर बंगाल की खाड़ी से हवाएँ चलतीं, अपने साथ नमी लातीं और इस टीले से टकरा जातीं। जो हवाएँ 1500 मीटर तक चढ़ने में समर्थ हो जातीं, वे तो इसे पार करके ब्रह्मपुत्र घाटी में पहुँच जातीं। और जो नहीं चढ़ पातीं, वे इसकी बांग्लादेश से लगती दीवारों से टकराकर बरस जातीं। और जमकर बरसतीं - भयंकर बरसतीं।

जाहिर है कि इससे इस तरफ की दीवार में क्षरण भी होगा। पानी मिट्टी को बहाकर भी ले जाएगा। भू-स्खलन भी होगा। चट्टानें भी टूटेंगी। और बस यह समझ लीजिए कि अब तक मिट्टी तो सब बह गई। और कई-कई सौ मीटर ऊँची चट्टानें ही बची हैं। यह प्रक्रिया अभी तक अनवरत जारी है। चैरापूंजी, मासिनराम आदि इसी दीवार के एकदम ऊपर बसे हैं। यहीं पूरी दुनिया में सबसे ज्यादा बारिश होती है। पिनुर्सला भी ऐसी ही जगह पर स्थित है, तो हो सकता है कि सबसे ज्यादा बारिश का रिकार्ड किसी साल इसके भी हाथ लग जाए।

तो 1500 मीटर की ऊँचाई पर खड़े होकर अगर आपको एकदम नीचे 1000 मीटर गहरी घाटी दिखाई पड़े, तो आप निश्चित ही रोमांचित हो उठेंगे। और अगर आपके दोनों तरफ ऐसी ही घाटियाँ हों, तब तो सिहर उठेंगे। ऐसा लगेगा कि अगली बारिश में सड़क का यह हिस्सा या तो इस घाटी में ढह पड़ेगा या उस घाटी में।

ऐसी खड़े ढाल वाली घाटियों को 'कैन्योन' कहते हैं। पश्चिम वाली घाटी के उस तरफ जो पहाड़-सा दिख रहा है, वो असल में 1500 मीटर ऊँचा समतल भू-भाग ही है और वह भी बहुत संकरा है। उसी पर चैरापूंजी स्थित है। उस भू-भाग के उस तरफ फिर से अत्यधिक गहरी घाटी है। उस घाटी में भारत का सबसे ऊँचा जलप्रपात नोहकालिकाई है। उस घाटी के उस तरफ फिर से 1500 मीटर ऊँची समतल संकरी पट्टी है। उस पट्टी पर मासिनराम स्थित है। और यह सिलसिला मासिनराम के बाद भी चलता जाता है। इसी तरह पूर्व दिशा में भी ऐसा ही है।

बहुत ज्यादा कटा-फटा भू-भाग है यह और अत्यधिक दुर्गम भी।

इसके बाद अंधेरा होते कितनी देर लगती है! कोई होटल दिख जाता, तो हम रुक जाते। ठंड चरम पर थी। शून्य के आसपास तापमान रहा होगा। या फिर हमें मोटरसाइकिल पर शून्य जैसा महसूस हो रहा था।

फरवरी का शुष्क महीना होने के कारण कहीं भी बादल नहीं थे। अन्यथा 'कैन्योन' के ऊपर बहुत घने बादल मिलते। इतने घने कि दिन में भी चलना मुश्किल हो जाता। रात में तो चलना असंभव ही होता।

कुल मिलाकर मौसम ने बड़ा साथ दिया। सड़क भी अच्छी बनी थी। साढ़े छह बजे तक चैरापूंजी पहुँच गये और 600 रुपये का एक कमरा भी मिल गया।

मेघालय प्राकृतिक रूप से बहुत खूबसूरत है। यह वाकई मेघों की धरती है, लेकिन फरवरी में मेघ नहीं होते। बहुत सारे मित्रों ने इस बात पर आश्चर्य भी व्यक्त किया और इसके लिए ग्लोबल वार्मिंग तक को जिम्मेदार ठहराया। लेकिन वास्तविकता यही है कि सर्दियों में बंगाल की खाड़ी से उत्तर की ओर हवाएँ नहीं चलतीं, जिसके कारण मेघालय समेत पूरे पूर्वोत्तर में अमूमन बारिश नहीं होती।

सर्दियाँ बीतते ही बंगाल की खाड़ी से उत्तर की ओर हवाएँ चलने लगेंगी और पूर्वोत्तर मेघ-मय होने लगेगा।



10. चेरापूँजी

10 फरवरी 2018

“एक महिला थी और नाम था का-लिकाई। उसने दूसरी शादी कर ली। पहले पति से उसे एक लड़की थी। तो उसका दूसरा पति उस लड़की से नफरत करता था। एक बार महिला बाहर से काम करके घर लौटी तो देखा कि पहली बार उसके पति ने उसके लिए मीट बनाया और परोसा भी। महिला बड़ी खुश हुई और साथ बैठकर भोजन कर लिया। बाद में उसे बाल्टी में कुछ उंगलियाँ मिलीं। उसे समझते देर नहीं लगी कि ये उंगलियाँ उसकी लड़की की हैं और उसके दूसरे पति ने लड़की को मार दिया है। इससे महिला बड़ी परेशान हुई और पास के झरने में छलांग लगाकर अपनी जान दे दी। बाद में उस झरने का नाम पड़ गया ‘नोह-का-लिकाई’, अर्थात् का-लिकाई की छलांग।”

यह कहानी थी नोह-का-लिकाई जलप्रपात की, जो वहाँ लिखी हुई थी। इस जलप्रपात को भारत का सबसे ऊँचा जलप्रपात माना जाता है। शुष्क मौसम होने के बावजूद भी एक पतली-सी जलधारा नीचे गिर रही थी। जलप्रपात बारिश में ही दर्शनीय होते हैं। यह भी बारिश में ही देखने योग्य है, लेकिन अब भी चूँकि इसमें पानी था, तो अच्छा लग रहा था।

यहाँ ज्यादा देर नहीं रुके। वापस चेरापूँजी पहुँचे और ‘डबल रूट ब्रिज’ के लिए रवाना हो गए।

चेरापूँजी से 15 किलोमीटर दूर तिरना नामक स्थान है। यहीं से ‘डबल रूट ब्रिज’ का पैदल रास्ता आरंभ होता है। हम जैसे ही तिरना पहुँचे तो पार्किंग में बाइक रोकते ही पार्किंग की पर्ची पकड़ा दी गई और कई अन्य लड़के हिंदी और अंग्रेजी में गाइड बनने को कहने लगे। इस रास्ते में गाइड की कोई आवश्यकता नहीं है। वे चूँकि स्थानीय लड़के थे, इसलिए कुछ ऐसी बातें बता सकते थे, जो कहीं अन्यत्र पता नहीं चल सकतीं। लेकिन उनकी हिंदी बहुत खराब थी और हमारी अंग्रेजी। इसलिए हमारे हाथ कुछ भी नहीं लगने वाला था।

यहाँ मैं एक सुझाव देना चाहूँगा। तिरना से ही डंडा ले लेना चाहिए। किसी जंगली जानवर के लिए नहीं, बल्कि पैदल रास्ता बहुत ज्यादा ढलान वाला है। पूरा रास्ता पक्का बना है, लेकिन ढलान वाले रास्तों पर डंडे काम आ जाया करते हैं। हालाँकि हमने नहीं लिए।

यहाँ बहुत सारे होम-स्टे भी थे और बहुत सारी दुकानें भी। गाँव का हर आदमी,

औरत, घर पर्यटन से जुड़ा है। 'लिविंग रूट ब्रिज' इस गाँव में नहीं है, लेकिन फिर भी पर्यटन से यहाँ सभी को अच्छी आमदनी हो जाती है।

जैसे ही गाँव से बाहर निकलते हैं, एकदम तेज ढलान मिलता है। पक्की सीढ़ियाँ हैं, इसलिए सुविधा रहती है। मैंने आपको थोड़ी देर पहले ही बताया था कि यहाँ खड़े ढाल वाले 'कैन्योन' हैं। यह भी एक कैन्योन ही है। ऊपर तिरना गाँव है और नीचे उतरकर 'लिविंग रूट ब्रिज'। समुद्र तल से 700 मीटर ऊपर तिरना है और 400 मीटर ऊपर 'रूट ब्रिज'। इसलिए आपको 300 मीटर नीचे उतरना पड़ता है। 300 मीटर ज्यादा नहीं होते, लेकिन खड़ा ढाल रोमांचित करता है। बीच में हल्के-फुल्के नाशते की एक दुकान भी है। इस दुकान की मालकिन तिरना की ही रहने वाली हैं। हिंदी समझ लेती हैं, लेकिन बोलते समय हँस पड़ती हैं।

नदी किनारे एक गाँव मिलता है। यहाँ 'सिंगल रूट ब्रिज' है। "वापसी में देखेंगे" कहकर हम आगे ही बढ़ते रहे। नीचे उतरकर एक झूला पुल से नदी पार करनी होती है। यह एक बेहद संकरा झूला पुल है और खूब हिलता है। साथ ही डर भी बना रहता है कि कहीं इसकी स्टील की रस्सियों के बीच में पैर न आ जाएँ।

नदी पार करके थोड़ी-सी चढ़ाई है और फिर दूसरी नदी मिलती है। नदी के उस ओर नोंगरियात गाँव बसा है। हैरानी होती है 'कैन्योन' की तीखी ढलानों पर बसे इन गाँवों को देखकर। इस नदी पर भी झूला पुल है, लेकिन अच्छी हालत में है।

नोंगरियात गाँव में प्रवेश करते ही एक नाले पर 'रूट ब्रिज' है। यह छोटा-सा पुल है, लेकिन इसी नाले पर थोड़ा ही ऊपर 'डबल रूट ब्रिज' दिख रहा था। रास्ता नोंगरियात गाँव से होकर जाता है।

एक जगह अंग्रेजी में लिखा था - "प्रिय यात्रियों, नोंगरियात में आपका स्वागत है। बात ये है कि हमारे यहाँ एक बड़ी समस्या है। उसके लिए हमें आपकी सहायता चाहिए। हम यहाँ जंगल में प्लास्टिक नहीं जला सकते, क्योंकि इससे हमारा पर्यावरण, पानी, हवा, मिट्टी सब खराब होते हैं। इसलिए प्लीज यहाँ प्लास्टिक न छोड़ें और सारा प्लास्टिक अपने साथ कम से कम ऊपर टैक्सी स्टैंड तक ले जाएँ।"

टिकट ले लिया। 'डबल रूट ब्रिज' के पास ही चाय की एक दुकान है। दो कप चाय ले ली। फोटो बाद में खींचेंगे, पहले इसके सामने बैठकर इसे निहारते हुए चाय पिएँगे।

एक 'कैन्योन' की गहराइयों में घने जंगलों में कौन आता होगा यहाँ, जो पुल की जरूरत पड़ गई? यह पुल एक छोटे-से नाले पर स्थित है। यह नाला थोड़ा ही आगे एक नदी में मिलता है। इस नदी में 'नोह-का-लिकाई' प्रपात का पानी आता है। उस नदी पर कोई भी 'रूट ब्रिज' नहीं है। इस नाले को पार करना तो बड़ा सरल है। उस नदी को कैसे पार करते होंगे?

क्या सोचा होगा उन लोगों ने कभी? कितनी उम्र मानें इसकी? सौ साल? डेढ़ सौ साल? मिशनरी तो शायद ही पहुँचे होंगे तब तक यहाँ? लोग ईसाई नहीं बने होंगे। पर्यटन तो कतई नहीं रहा होगा। सीधे-सादे वनवासी ही रहे होंगे। सीमित जरूरतें होती होंगी। यहाँ इस छोटे-से नाले पर पुल की जरूरत तो नहीं रही होगी।

या केवल खाली बैठे-बैठे पुल बना दिया? समय बिताने को।

या पुल बनाने की प्रतियोगिताएँ हुआ करती थीं?

खासी और जयंतिया क्षेत्रों के दक्षिणी भाग में बहुत सारे 'लिविंग रूट ब्रिज' हैं। कुछ प्रसिद्ध हैं, कुछ प्रसिद्ध नहीं हैं। हो सकता है कि कछार, नागालैंड और मणिपुर में भी इस तरह के पुल हों। अगर उधर भी हुए, तो निश्चित ही म्यांमार में ही होंगे। जो भी हो, इस तरह के पुल केवल नदी-नाले पार करने के लिए नहीं बनाए जाते थे। इस तरह के पुल बनाना किसी सामाजिक रिवाज का भी हिस्सा रहा होगा।

अपने लेखन में मुझे श्रंगार रस का प्रयोग करना नहीं आता, अन्यथा दो-चार पन्ने इस पुल की खूबसूरती पर भी लिख देता। मैं बस चाय पी रहा हूँ और इतिहास में डुबकी लगाने की कोशिश कर रहा हूँ। चाय समाप्त हो जाएगी, तो उठकर दो-चार फोटो खींच लेंगे और वापस चल देंगे।

कुछ दूर 'नैचुरल स्वीमिंग पूल' है। उससे कुछ आगे 'रेनबो फॉल' है। नैचुरल स्वीमिंग पूल में नोह-का-लिकाई प्रपात का ही पानी आता है। रेनबो फॉल से अवश्य ही नोह-का-लिकाई दिखता होगा। हम 'डबल रूट ब्रिज' से आगे नहीं गए। शाम हो चली थी। ऊपर तिरना तक पहुँचते-पहुँचते अंधेरा हो जाएगा।

वापस चल दिए। कुछ ही देर में उस गाँव में पहुँच गए, जहाँ 'सिंगल रूट ब्रिज' है। दस-दस रुपये की पर्ची कटी। लेकिन यहाँ एक ही नदी पर पास-पास दो पुल हैं। काफी लंबे पुल हैं दोनों और खासे मजबूत भी। यहाँ फिर से मेरी इसी अवधारणा को बल मिला कि जरूर पुल बनाना सामाजिक जीवन का हिस्सा रहा होगा। केवल नदी पार करना ही उद्देश्य नहीं होता होगा।

इस गाँव में बहुत सारी पगडंडियाँ हैं और सभी कंक्रीट की बनी हैं। कई दुकानें भी हैं और होम-स्टे भी। हाँ, मैं तो यह भी बताना भूल गया कि नोंगरियात में भी बहुत सारे होम-स्टे हैं। हम तो यहाँ नहीं रुक सके, क्योंकि चेरापूंजी में हमने कमरा ले रखा था और सारा सामान भी वहीं था। लेकिन आप इस जंगल में कम से कम एक दिन किसी होम-स्टे में जरूर रुकना।

तो इस गाँव के बाद तिरना तक बड़ी जोरदार चढ़ाई है। पतली-पतली सीढ़ियाँ हैं। रेलिंग भी है। नीचे नदी के पुल से ऊपर तिरना तक लगभग 2500 सीढ़ियाँ हैं। पसीना भी खूब आता है और दम भी खूब निकलता है।

और जब तिरना पहुँचे तो बड़ी राहत मिली। मोटरसाइकिल स्टार्ट की और अंधेरे में चेरापूंजी की ओर दौड़ लगा दी।

लेकिन चेरापूंजी में तो नजारा ही दूसरा था। होटल में ताला लगा था। होटल दूसरी मंजिल पर था। नीचे कुछ दुकानें थीं। पूछताछ की तो किसी को भी इसकी जानकारी नहीं थी। न ही किसी के पास होटल वाले का फोन नंबर था। अचानक मुझे ध्यान आया कि कल रविवार है। रविवार को पूर्वोत्तर के ईसाई बहुल राज्यों में छुट्टी तो रहती ही है, बंद-जैसा माहौल भी होता है। मैंने कुछ साल पहले मिजोरम में इसे महसूस किया था, जब हमारे सामने नेशनल हाइवे पर खाने तक के लाले पड़ गए थे।

होटल की नाम-पट्टिका पर देखा, वहाँ भी फोन नंबर नहीं लिखा था। थोड़ा और दूर गए तो नाम-पट्टिका पर सबसे नीचे फोन नंबर लिखा दिख गया, लेकिन यह स्पष्ट नहीं था। इसके लिए इसके सामने सड़क के दूसरी ओर स्थित एक रेस्टोरेंट की दूसरी मंजिल पर जाकर फोन नंबर पढ़ना पड़ा। फोन नंबर मिल गया - इस बात से जो खुशी मिली, उसे बयाँ नहीं कर सकता।

लेकिन फोन बंद मिला।

घबराहट होनी स्वाभाविक ही थी। अगर कल रविवार न होता, तो हम निश्चित रहते। सोचते कि होटल वाला गया होगा कहीं इधर-उधर। लेकिन आज ऐसा नहीं सोच सकते थे। पता नहीं होटल वाला कहाँ का रहने वाला हो। हो सकता है कि कल की ही तरह आज भी इस होटल में केवल हम ही यात्री हों। हो सकता है कि वो हमारी प्रतीक्षा करता रहा हो और अंधेरा होने के बाद भी हमारे न आने पर बंद करके चला गया हो। लेकिन हमारा तो फोन नंबर उसके यहाँ लिखा हुआ है। उसे फोन करना चाहिए था।

शायद उसने फोन किया भी हो, लेकिन उधर जंगल में नेटवर्क नहीं आ रहे थे।

होटल के नीचे के सभी दुकान वालों को हमारी स्थिति के बारे में पता चल चुका था। अब अगर हम किसी तरह बालकनी तक चढ़ते हैं, तो शायद कोई भी ऐतराज नहीं करेगा। हम बालकनी में चढ़ने की जगह ढूँढने लगे। ऐसी एक संभावित जगह मिल भी गई। थोड़ी देर यहीं सीढ़ियों पर बैठते हैं, फिर ऊपर चढ़ेंगे।

सीढ़ियों पर बैठे-बैठे ख्याल आया कि क्यों न थाने जाया जाए। कोई न कोई रास्ता निकलेगा ही। लेकिन पहले बालकनी में चढ़ने की कोशिश करेंगे। अगर किसी ने ऐतराज किया, तो थाने जाएँगे।

एक विकल्प और भी था - दूसरे होटल में कमरा ले लेते हैं। लेकिन यह आखिरी विकल्प होगा। सारे पैसे हमारे पास ही थे।

लेकिन क्या कोई ऐसा भी कर सकता है? उन्हें पता था कि हम आज भी यहीं रुकने वाले हैं। चैरापूँजी एक बहुत प्रसिद्ध पर्यटक स्थल है। इसलिए वो यह भी जानता होगा कि हम देर-सबेर आएँगे ही। एकदम टैक्सी-स्टैंड के बगल में यह होटल है। अभी भी शिलोंग जाने वाली शेयर्ड टैक्सियाँ तैयार खड़ी थीं। इतनी तो देर नहीं हुई हमें। अगर वो रविवार मनाने अपने गाँव भी गया है, तो भी जरूर कोई न कोई रास्ता हमारे लिए छोड़कर गया होगा।

एक बार फिर से पूछताछ करते हैं।

नजर पड़ी सीढ़ियों के बगल में सड़क किनारे एक नन्हीं-सी पान की दुकान पर। एक-बाई-एक फुट की यह दुकान रही होगी। नहीं, एक-बाई-एक तो बहुत छोटा हो जाएगा। दो-बाई-दो की होगी। इसमें एक लड़की बैठी थी। उससे इस बारे में बात की, होटल वाले का फोन नंबर मांगा। उसने मना कर दिया। लेकिन मैं जानता हूँ कि मेरी हिंदी में कही बात पूरी तरह इनके पल्ले नहीं पड़ने वाली। मैं इन सभी दुकान वालों से कुरेद-कुरेद कर पूछूँगा। ये मना करेंगे, तो आठ-दस बार शब्द बदल-बदल कर फिर-फिर पूछूँगा।

और दूसरी बार पूछने पर उस पान वाली लड़की ने एक पर्ची निकालकर दी।

छोटी-सी पर्ची थी, उंगली जितनी बड़ी। एक फोन नंबर लिखा था।

घंटी बज गई।

फोन भी उठा लिया।

और मेरी बात सुने बिना ही उधर से आवाज आई - “आ गए आप लोग? बस, दस मिनट में पहुँच रहा हूँ।”

11 फरवरी 2018

अभी चेरापूँजी में हमने देखा ही क्या है! हमारे पास बहुत लंबी लिस्ट थी, जिन्हें गूगल मैप में भी सेव कर रखा था। जिस स्थान को देख लेते, उसे डिलीट कर देते। चूँकि यह जलप्रपातों का मौसम नहीं है, इसलिए अब हम इन पर फोकस नहीं करेंगे। इधर गुफाएँ हैं, तो सभी गुफाएँ देख लेते हैं और कुछ स्थान और भी हैं।

चेरापूँजी और मासिनराम एक ही घाटी में विपरीत दिशाओं में आमने-सामने स्थित हैं। बादल इस घाटी में फँस जाते हैं और जमकर बारिश करते हैं। और यह बारिश इतनी ज्यादा होती है कि दुनिया में नाम हो जाता है। कभी चेरापूँजी में हो जाती है, तो कभी मासिनराम में। पिछले कुछ वर्षों से मासिनराम में चेरापूँजी से अधिक बारिश हो रही है, तो मासिनराम चर्चा में आ गया। और इसीलिए पर्यटकों में लोकप्रिय भी होने लगा। लेकिन आकर्षण अभी भी चेरापूँजी का ही है।

तो सुबह उठते ही सबसे पहले दिमाग में यही बात आई - “हम मासिनराम क्यों जाना चाहते हैं?”

मासिनराम के आसपास भी कुछ पर्यटक-स्थल हैं। यह भी भौगोलिक रूप से चेरापूँजी जैसी जगह पर ही स्थित है। हमारी इन पर्यटक-स्थलों में ज्यादा दिलचस्पी नहीं थी। लेकिन एक वजह थी, जिसके कारण हम मासिनराम जाना चाहते थे।

हमारी मेघालय यात्रा जयंतिया पहाड़ियों से आरंभ हुई थी। अब हम खासी पहाड़ियों में हैं। और अभी गारो पहाड़ियों में भी जाना है। चेरापूँजी के मुकाबले मासिनराम से गारो पहाड़ियाँ ज्यादा नजदीक हैं।

कितना नजदीक?

हमने योजना बनाई थी कि गारो पहाड़ियों में बलपकरम नेशनल पार्क देखेंगे और सीजू गुफाएँ भी। बलपकरम का परमिट बाघमारा से बनता है। इसलिए सबसे पहले बाघमारा जाना जरूरी था। चेरापूँजी से बाघमारा 250 किलोमीटर दूर है और मासिनराम से 200 किलोमीटर।

गारो पहाड़ियों में ‘टूरिज्म’ बिल्कुल भी नहीं है और यह अशांत इलाका है। ऐसे इलाके में देर-सबेर घूमना ठीक नहीं। पहाड़ी रास्तों पर 200 किलोमीटर चलने में ही पूरा दिन लग जाता है, इसलिए दिन छिपने से पहले बाघमारा पहुँचने के लिए जरूरी था कि हम सुबह मासिनराम से चलें, न कि चेरापूँजी से।

और आप जानते ही हैं कि हमारी प्रत्येक योजना में ‘लेकिन’ शब्द आता है और कई बार आता है। यहाँ भी आ गया।

लेकिन अगर रास्ता खराब हुआ तो?

तब तो हम किसी भी हालत में दिन छिपने से पहले 200 किलोमीटर तय नहीं कर सकते। मैं और दीप्ति दोनों ही नहीं चाहते थे कि अशांत गारो पहाड़ियों में हमें अंधेरे में चलना पड़े और 'जीरो टूरिज्म' वाले बाघमारा में रात में होटल ढूँढना पड़े।

तो अब क्या करें?

इस तरह बलपकरम को अपनी लिस्ट से काट दिया। लेकिन सीजू गुफाएँ देखने की बड़ी इच्छा थी। मैंने जानकार दोस्तों से सीजू में किसी होटल की जानकारी ली, तो पक्की जानकारी नहीं मिली। दोस्तों ने विलियमनगर या बाघमारा रुकने की सलाह दी और हम सुबह इधर से चलकर अंधेरा होने के बाद ही विलियमनगर या बाघमारा पहुँचेंगे, जो इस समय हम बिल्कुल नहीं चाहते थे।

असम के दुधनोई में एक मित्र रहते हैं - बजरंग लाल पारीक। उनका आमंत्रण भी आ चुका था। हम सीजू गुफाएँ देखने के बाद जब मेघालय से असम में जाएँगे, तो सबसे पहले दुधनोई ही आएगा। यानी वहाँ देर-सबेर जाया जा सकता है।

दिमाग बहुत तेजी से गणनाएँ कर रहा था। मासिनराम से नोंगस्टोइन के रास्ते जाने पर सीजू गुफाएँ 270 किलोमीटर दूर हैं। सीजू से 60 किलोमीटर पहले रोंगजेंग से दुधनोई का रास्ता अलग हो जाता है। यानी हमें मासिनराम से नोंगस्टोइन, रोंगजेंग होते हुए सीजू जाना है और फिर सीजू से रोंगजेंग होते हुए दुधनोई।

“तो अगर हमें मासिनराम से बाघमारा की 200 किलोमीटर की दूरी एक दिन में तय करने में मुश्किल आएगी, तो मासिनराम से सीजू या दुधनोई की 270 किलोमीटर की दूरी एक दिन में कैसे तय कर लेंगे?” दीप्ति की सहज जिज्ञासा थी।

“पहली बात तो यह है कि दुधनोई में हमारा पक्का ठिकाना है। अगर देर-सबेर भी हो जाएगी, तब भी कोई दिक्कत नहीं। और दूसरी बात है कि रोंगजेंग का रास्ता पठार के ऊपर से होकर जाता है, जबकि बाघमारा का रास्ता पठार के नीचे से। पठार के ऊपर बहुत छोटी-छोटी पहाड़ियाँ मिलेंगी और घुमाव कम होंगे, इसलिए तेज स्पीड मिलेगी। पठार के नीचे कटी-फटी पहाड़ियाँ होंगी और तेज घुमाव होंगे, इसलिए कम स्पीड मिलेगी। अगर दोनों ही जगहों पर खराब सड़क भी मिली, तो हमें पठार के नीचे 200 किलोमीटर तय करने मुश्किल हो जाएँगे, लेकिन पठार के ऊपर आसानी से 200 किलोमीटर तय कर लेंगे। हम सीजू के लिए ही निकलेंगे, लेकिन अगर रोंगजेंग पहुँचते-पहुँचते देर हो जाएगी, तो दुधनोई की तरफ मुड़ लेंगे।”

अब जब यात्रा के सारे समीकरण ही बदल गए, तो मासिनराम क्यों जाते? मासिनराम तो हम इसलिए जाना चाहते थे कि वह बाघमारा के ज्यादा नजदीक है। लेकिन अब हमें पठार के ऊपर से ही जाना है, तो सीजू चेरापूंजी से भी उतना ही दूर है, जितना मासिनराम से।

तो आज भी हम चेरापूंजी ही रुकेंगे। आज पूरे दिन इसके आसपास के अन्य

दर्शनीय स्थान देख लेंगे और शाम तक वापस अपने 600 के कमरे में लौट आएँगे।

माँसमाई केव - सन्नाटा। हर तरफ सन्नाटा। रविवार होने के कारण लोगों की छुट्टी थी। दुकान, होटल सब बंद। फिर भी कुछ खुले हुए। जो भी खुले थे, उनमें चाय आदि ले लेने में समझदारी थी। हम साढ़े आठ बजे माँसमाई पहुँच गए। टिकट काउंटर बंद था। झाँककर भी देखा, कोई नहीं। कहीं गुफा भी तो बंद नहीं है! पार्किंग में बाइक खड़ी कर दी। पार्किंग के चारों ओर रेस्टोरेंट हैं। एक-दो के सामने एक-दो जने बैठे थे। उन्हें हमारी उपस्थिति से कोई फर्क नहीं पड़ा। यह सन्नाटा अजीब-सा लगा।

अरे भाई, कोई तो हमें टोक लो।

एक जगह लिखा था - वेलकम टू माँसमाई केव। हम उसी तरफ चल दिए। एक रेस्टोरेंट के सामने दो बंगाली बैठे दिखे - धूप में इत्मीनान से। तभी बगल में एक स्थानीय बूढ़े ने हमें टोका। उसने क्या कहा, यह तो समझ नहीं आया, लेकिन बड़ी खुशी मिली। कोई और मौका होता, तो हम अनसुनी करके आगे बढ़ जाते, लेकिन अब रुक गए।

“क्या? व्हाट?” मैंने पूछा।

“टेन मिनट्स।”

“टेन मिनट्स क्या?”

“नाइन ओ क्लॉक।”

“केव ओपन नाइन ओ क्लॉक?”

“या।”

अभी आधा घंटा बाकी था। कुछ खा लेते हैं। रेस्टोरेंट की मालकिन दस मिनट प्रतीक्षा करने की शर्त पर वेज मोमोज बनाने लगी।

ठीक नौ बजे टिकट काउंटर खुल गया। 20-20 रुपये प्रति व्यक्ति और 20 रुपये कैमरे के और 10 रुपये पार्किंग शुल्क देकर गुफा में प्रवेश कर गए। लाइमस्टोन की गुफा है यह और अंदर बिजली की लाइटें जली रहती हैं।

यह गुफा जम्मू के शिवखोड़ी और कुमाऊँ के पाताल भुवनेश्वर की गुफाओं जैसी ही है, लेकिन यहाँ पंडे-पुजारियों का कब्जा नहीं है। मेरा बस चले तो मैं शिवखोड़ी और पाताल भुवनेश्वर की गुफाओं को भी पुजारियों से आजाद करा दूँ। यहाँ माँसमाई में आप गुफा के अंदर खूब फोटो खींच सकते हैं और लाखों सालों से टपकते पानी के कारण बनी अनगिनत संरचनाओं को निहार सकते हैं। यहाँ आपको शेषनाग और करोड़ों देवताओं की उपस्थिति बताकर डराने वाला कोई नहीं है। कुछ संरचनाएँ तो वास्तव में मनुष्य जैसी ही हैं। लगता है जैसे वे अब उठकर चल देंगी।

काउंटर पर बैठा आदमी ठीक-ठाक हिंदी जानता था। मैंने बातचीत शुरू कर दी - “आप यहीं माँसमाई के रहने वाले हो?”

“हाँ जी।”

“ये बताइये कि टिकट कलेक्शन का पैसा कहाँ जाता है? और कौन यह निर्धारित करता है कि कौन कलेक्ट करेगा?”

“यह सब गाँव का हैडमैन डिसाइड करता है।”

“यानी सारा पैसा हैडमैन के पास जाता है और वो ही आप लोगों को अलग-अलग जिम्मेदारियाँ बाँटता है?”

“हाँ जी।”

“अच्छा, एक बात और बताइए। इधर हर घर के दरवाजे पर तीन पत्थर गड़े हुए हैं। यहाँ पार्किंग में भी हैं। ये क्या हैं?”

“पुराने समय में लोग इन्हें लगाते थे और इन्हें लगाना अच्छा माना जाता था।”

“तो क्या अब अच्छा नहीं माना जाता?”

“अब भी अच्छा माना जाता है, लेकिन ये पुराने समय के हैं।”

“पुराने समय के, मतलब?”

और इसका उत्तर नहीं मिला। बाद में एक-दो और लोगों से भी इस बारे में बातचीत की, लेकिन स्पष्ट बात किसी ने नहीं की। असल बात यह है कि ईसाई बनने से पहले इनके अपने रीति-रिवाज थे। घर के दरवाजे पर, पवित्र जगहों पर तीन खड़े पत्थर लगाना और उनके पास एक मेजनुमा पत्थर रखना शुभ माना जाता था। और धर्म-परिवर्तन की पहली शर्त होती है, पुराने सभी रिवाज छोड़ने पड़ेंगे। लेकिन जो चीज शुभ मानी जाती थी, कम से कम वो चीज आसानी से नहीं छूटती। अभी तक भी बहुत सारे लोग इन्हें लगाते हैं। पार्कों में, खेतों में और खाली जगह पर भी ये लगे हुए दिख जाते हैं।

लेकिन बातचीत करते समय ईसाईयत आगे आ जाती है और इस बारे में खुलकर नहीं बोल पाते।

और माँसमाई गुफाओं को पर्यटन के लिहाज से बहुत अच्छा विकसित किया गया है। गुफा के अंदर रोशनी का प्रबंध है, अच्छा और पक्का रास्ता बना है और आवश्यक जगहों पर रेलिंग भी लगी है। लोग जानते हैं कि आमदनी पर्यटन से ही होगी और यह भी जानते हैं कि किस तरह पर्यटकों को ‘फील गुड’ कराना है।

बाहर उत्तर भारतीय भोजन भी मिलता है। बनाने वाली ने बड़ा स्वादिष्ट कढ़ाई पनीर बनाया, लेकिन बिल्कुल जरा-सा। रोटियों के साथ अचार की तरह खाना पड़ा।

यहाँ से आगे बढ़े तो ‘सेवन सिस्टर्स फॉल’ पड़ा। बड़ी दूर तक खड़ी चट्टानें चली गई हैं और ऊपर से कई स्थानों से पानी गिरता होगा। इस समय एक बूंद भी पानी नहीं था।

इससे आगे थंगखरंग पार्क है। मेन रोड से डेढ़ किलोमीटर हटकर। लेकिन यह वन विभाग का पार्क है। पठार के उस हिस्से के एकदम ऊपर स्थित है, जहाँ से दक्षिण में खड़ा ढलान आरंभ हो जाता है और यह ढाल बांग्लादेश सीमा तक जाता है। वातावरण में धुंध-सी थी, अन्यथा यहाँ से बांग्लादेश के मैदान भी दिख जाते। इस पार्क के पश्चिम में किनरेम जलप्रपात भी दिखता है। लेकिन बाकी सभी

जलप्रपातों की तरह इसमें भी एक-दो बूंद ही पानी था। लेकिन इसकी भौगोलिक स्थिति और इसका खुलापन बता रहा था कि बारिश के दिनों में यह मेघालय के सबसे खूबसूरत जलप्रपातों में से एक बन जाता होगा।

किनरेम प्रपात के नीचे से सड़क भी जाती है, जिससे थोड़ी देर बाद हम जाएँगे।

यह तो हुई सामान्य पर्यटन की बात। आज अभी तक जितना हम घूमे, उतना तो चेरापूंजी आने वाले सभी यात्री घूमते ही हैं। अब हम आपको ले चलते हैं, पर्यटन से दूर एक ऐसे स्थान की तरफ, जिसकी आपने कल्पना भी नहीं की होगी।

अब कोई मुझसे यह नहीं पूछेगा कि मुझे कैसे पता चला।

तो जब आप चेरापूंजी से मॉसमाई की ओर जाते हैं, तो जगह-जगह आपको शेला और भोलागंज की दूरियाँ लिखी दिखती हैं। चेरापूंजी से भोलागंज लगभग 45 किलोमीटर दक्षिण में है। मॉसमाई गुफाएँ 1200 मीटर की ऊँचाई पर हैं। इसके बाद पठार से नीचे उतरने के लिए ढलान आरंभ हो जाता है और भू-दृश्य एकदम बदल जाता है। हमारे एक तरफ होती हैं, एकदम सीधी खड़ी कई सौ मीटर ऊँची चट्टानें और एक तरफ होती है, गहरी घाटी। लेकिन इधर भी कई गाँव हैं। आगे बढ़ते-बढ़ते जब हम किनरेम प्रपात के नीचे से गुजरते हैं, तो हम समुद्र तल से 500 मीटर ऊपर होते हैं।

मॉसमाई के बाद से ही यह सड़क खराब है, जो आगे बढ़ने पर और भी खराब होती चली जाती है। मावलॉग गाँव के पास एक तिराहा है। सीधी सड़क थोड़ा घूमकर भोलागंज जाती है और एक सड़क दाहिने मुड़कर भोलागंज जाती है, जो कुछ छोटी है। मैंने पहले ही सोच रखा था कि इस छोटी सड़क से जाना है। दिमाग में कई दिन पहले से ही बैठा हुआ था कि मावलॉग से दाहिने जाने वाली सड़क ही पकड़नी है।

लेकिन यहाँ मैंने एक भूल कर दी। इस छोटी सड़क का भूगोल देखना भूल गया। यह कितनी ऊँचाई से गुजरती है, यह देखना भी भूल गया।

लेकिन भूल का एहसास तो बाद में होता है। मेरे तो मन में पहले से ही था कि छोटी सड़क से ही जाना है, तो हम दाहिने मुड़ गए। इस समय हम समुद्र तल से लगभग 450 मीटर ऊपर थे। भोलागंज 100 मीटर से भी नीचे स्थित है।

अब बड़ी तेज चढ़ाई का सामना करना पड़ा और 3-4 किलोमीटर चलने के बाद हम 750 मीटर की ऊँचाई पर पहुँच गए। यहाँ एक चौराहा है। एक सड़क सीधे चेरापूंजी जाती है, एक तिरना जाती है जहाँ से डबल रूट ब्रिज का पैदल रास्ता आरंभ होता है, एक सड़क मॉसमाई की तरफ जाती है जिससे अभी हम आए थे और एक जाती है भोलागंज। हम भोलागंज की ओर मुड़ गए। मुझे उम्मीद थी कि इस स्थान के बाद उतराई मिलेगी और हम धीरे-धीरे उतरते-उतरते भोलागंज पहुँच जाएँगे।

लेकिन इसके बाद भी चढ़ाई जारी रही और हम 900 मीटर से भी ऊपर तक पहुँच गए। अब माहौल का अंदाजा हुआ, तो स्थिति की गंभीरता का एहसास होने लगा। अगर तिरना वाले उस मोड़ से उतराई शुरू हो जाती, तो अब तक हम 600 मीटर पर होते और समीकरण कुछ और होते। लेकिन अब समीकरण कुछ और थे।

भोलागंज केवल 10 किलोमीटर दूर बाकी था और हम उससे 900 मीटर ऊपर खड़े थे। यानी 10 किलोमीटर में हमें 900 मीटर नीचे उतरना है। यह अनुपात पैदल ट्रेकिंग में भी अच्छा-खासा मुश्किल होता है। मोटरसाइकिल पर भी मुश्किल ही होगा।

अगर सड़क पक्की होती, तो धीरे-धीरे उतर जाते; लेकिन सड़क पर छोटे-छोटे पत्थर ही पत्थर थे। मैदान में कभी जब नई सड़क बनती है और उस पर पत्थर ही पत्थर पड़े होते हैं, तो आप उस पर मोटरसाइकिल चलाते हुए गिरेंगे या बचेंगे? लेकिन यहाँ तो बहुत तेज ढलान था। ऐसे ढलान पर जहाँ पत्थर या बजरी की बहुतायत हो, अगला ब्रेक कभी नहीं लगाना चाहिए। और पिछला ब्रेक तब लगेगा, जब एक पैर जमीन से उठकर ब्रेक तक पहुँचेगा। लगभग जीरो स्पीड में दोनों ही पैर जमीन पर टिकाने पड़ रहे थे। क्लच और गियर से भी ब्रेक लगाने चाहे, लेकिन इंजन स्टार्ट हो जाता था और बाइक संभालनी मुश्किल हो जाती थी।

आखिरकार हाथ खड़े कर दिए। हम लगभग 800 मीटर तक ही आए होंगे। आगे भी ऐसा ही ढलान है। बल्कि 500 मीटर के नीचे तो इससे भी तेज ढलान है।

“अब मुझसे नहीं होगा।” मोटरसाइकिल एक तरफ खड़ी कर दी और दम लेने लगा। ऐसा लग रहा था, जैसे मैं मोटरसाइकिल को नहीं बल्कि मोटरसाइकिल मुझे चला रही हो।

“हाँ, ठीक है। अगर पहुँच भी गए, तो चढ़ने में समस्या आएगी।” दीप्ति ने कहा।

“नहीं, चढ़ने में कोई समस्या नहीं आएगी। पहले गियर में डालकर आराम से बैठ जाना है। चढ़ाई में संतुलन बनाना नहीं पड़ता, अपने-आप बन जाता है।”

“लेकिन हम वहाँ जा क्यों रहे हैं? हमारे अलावा कोई भी नहीं जा रहा।”

नवंबर 1997 में बांग्लादेश में एक कंपनी का गठन हुआ था - लाफार्ज सुरमा सीमेंट कंपनी। सिलहट के पास छतक में इसकी एक उत्पादन इकाई लगाई गई। लेकिन बांग्लादेश में तो चूने के पत्थर हैं ही नहीं। और कुछ ही दूर मेघालय में उच्च गुणवत्ता का चूना-पत्थर निकलता था। नवंबर 2000 में इस संबंध में भारत और बांग्लादेश में करार हुआ। तो चूने के पत्थर की निर्बाध आपूर्ति के लिए मेघालय से बांग्लादेश तक 17 किलोमीटर लंबी एक कन्वेयर बेल्ट स्थापित की गई। यह बेल्ट अभी भी चालू है। या फिर पिछले दिनों सुप्रीम कोर्ट ने मेघालय में हर प्रकार के खनन पर रोक लगाई थी, तो शायद बंद हो गई हो। लेकिन 17 किलोमीटर लंबी कन्वेयर बेल्ट अभी भी देखने को मिल जाएगी।

यह बेल्ट भोलागंज के नजदीक से आरंभ होती है। इसके नीचे से भोलागंज-मासिनराम सड़क भी गुजरती है। तो हमें इसे देखने के लिए कोई विशेष प्रयत्न या अनुमति नहीं लेनी पड़ेगी। हम आसानी से इसे बांग्लादेश जाते देख सकते हैं। इसीलिए चेरापूंजी के लोकप्रिय पर्यटन स्थलों को देखने की बजाय इसे देखने की मेरी बड़ी इच्छा थी।

लेकिन मैं अक्सर एक बात और भी सोचता हूँ। ब्रिटिश राज में शिलोंग ही पूरे असम की राजधानी थी। उधर अंग्रेजों ने शिमला और दार्जिलिंग तक रेलवे लाइन

बिछा दी थी। तो क्या कभी शिलोंग में रेल पहुँचाने की कोशिश नहीं की? कोशिश तो की होगी। शिलोंग में रेल नहीं है, यह तो हम सभी जानते हैं। लेकिन अंग्रेजों ने वहाँ रेल पहुँचाने के लिए हाथ-पैर तो चलाए होंगे, यह मेरा अंदाजा था।

वर्ष 1896 में अखौरा से करीमगंज की मीटरगेज की लाइन चालू हो चुकी थी। 1916 में सिलहट में रेल पहुँची। 1900 के आसपास ही लामडिंग से गुवाहाटी भी रेल से जुड़ गया। शिलोंग के उत्तर में गुवाहाटी है, तो दक्षिण में सिलहट। तो काफी संभावना है कि गुवाहाटी से ही शिलोंग को जोड़ने की कोशिशें हुई होंगी।

जी नहीं, जनाब!

6 जून 1886 को वर्तमान मेघालय में पहली बार ट्रेन चली थी - थरिया और कंपनीगंज के बीच। थरिया वर्तमान में मेघालय में है और कंपनीगंज बांग्लादेश में। आप अगर थरिया में खड़े हों और उत्तर की ओर मुँह करके गर्दन 45 डिग्री ऊपर उठाओगे, तो सामने चैरापूँजी दिखेगा। योजना थी चैरापूँजी में रेल पहुँचाने की। उधर कंपनीगंज को सिलहट से जोड़ते और थरिया को चैरापूँजी से। एक बार रेल चैरापूँजी पहुँच जाती, तो शिलोंग तक पहुँचाना आसान होता।

और हाँ, ऊपर चैरापूँजी से माँसमाई तक भी रेलवे लाइन बिछाई जा चुकी थी। आज तो उस लाइन के अवशेष भी नहीं मिलते। लेकिन एक दिन कहीं पढा था कि माँसमाई के पास स्थित सोहबर गाँव में उन पटरियों से लैंप-पोस्ट बनाए गए हैं। यह जानकारी मुझे दिल्ली लौटकर मिली, अन्यथा आज हम सोहबर के बहुत नजदीक से गुजरे थे।

फिर 1897 में शिलोंग में बड़ा जोरदार भूकंप आया, जिसने थरिया-कंपनीगंज लाइन को इतना ज्यादा क्षतिग्रस्त कर दिया कि यह फिर चालू नहीं हो सकी। इस प्रकार शिलोंग तक रेल का सपना धरा ही रह गया।

लेकिन एक बात और दिमाग में आती है। थरिया से कंपनीगंज की 12 किलोमीटर की इस दूरी में रेलवे लाइन का एकाध अवशेष तो बचा ही होगा। घने जंगल में कुछ न कुछ तो होगा ही।

...

तो अब आगे तो जाना ही नहीं था। मन बड़ा उदास हुआ। कुछ ही समय पहले हम 450 मीटर तक पहुँच चुके थे और अगर उसी सड़क पर चलते रहते, तो अब तक उस कन्वेयर बेल्ट के नीचे खड़े होते। जबकि अब न इतना समय था और न ही इतना मनोबल था कि वहाँ तक वापस जाकर उसी सड़क से आएँ। वापस मुड़ गए और तिरना गाँव वाले मोड़ से होते हुए सीधे चैरापूँजी पहुँच गए।

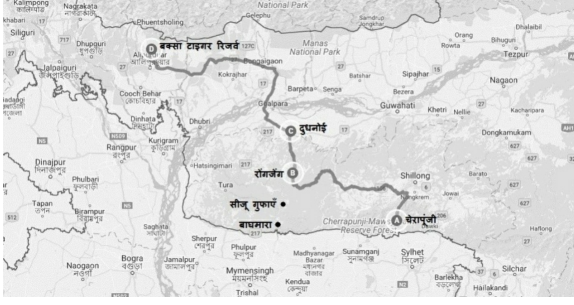
और हाँ, तिरना मोड़ से दो-तीन किलोमीटर पहले जब दीप्ति तेजपत्ते तोड़ रही थी, तो मुझे एकदम सामने दिखाई पड़ा - नोह-का-लिकाई प्रपात। सीधी दूरी कम से कम पाँच किलोमीटर रही होगी और सड़क दूरी 20 किलोमीटर।

ठीक तीन बजे हम थे 'गार्डन ऑफ केव' के द्वार पर। पास में ही कुछ स्थानीय लोग पिकनिक मना रहे थे और हिंदी गानों पर थिरक रहे थे। यहीं द्वार के पास एक महिला पकौड़ियाँ तल रही थीं। चाय और पकौड़ी।

यह स्थान एक आश्चर्यजनक जगह है। सबसे शानदार है एक गुफा की छत में

छेद और उससे नीचे गिरता पानी। पानी गुफा में बीचोंबीच गिरता है। यानी गुफा के भीतर जलप्रपात। फिलहाल बहुत थोड़ा पानी गिर रहा था। बारिश में तो वाकई दर्शनीय हो जाता होगा यह। इसके अलावा कुछ और भी जलप्रपात हैं। पूरे 'गार्डन' में पैदल घूमने के लिए पक्का रास्ता बना है। यह स्थान भी बड़ा पसंद आया।

और रात होते-होते होटल आ गए।



11. मेघालय से उत्तर बंगाल

12 फरवरी 2018

सुबह-सुबह पूरी-सब्जी मिल जाए, तो इससे अच्छा नाश्ता कुछ नहीं हो सकता। रविवार होने के कारण कल यह रेस्टोरेंट बंद था, लेकिन इसकी मालकिन हमें पहचान गई थीं। परसों जब इनके यहाँ डिनर कर रहे थे, तो हमारे बार-बार सब्जी मांगने पर इन्होंने पतीली ही उड़ेल दी थी कि अब सारी सब्जी खत्म हो गई है। हमारे बाद आए एक आदमी ने तो अचार और मिर्च से पूरियाँ खाई थीं। लेकिन आज सब्जी की कोई कमी नहीं थी।

मैं पहले ही बता चुका हूँ कि हमने नोंगस्टोइन होते हुए रोंगजेंग तक जाने का फैसला किया था। अगर समय पर्याप्त होगा, तो सीजू जाएँगे अन्यथा दुधनोई की तरफ निकल लेंगे। और इसके लिए सुबह चार बजे चेरापूंजी से निकलना भी पक्का कर लिया।

लेकिन ऐसा भला कभी हुआ है?

आठ बजे चेरापूंजी से निकले। चार घंटों का नुकसान कह रहा था कि अब हम सीजू तो नहीं जा रहे।

चेरापूंजी से शिलोंग वाली सड़क पर चल दिए। जब दो दिन पहले हम चेरापूंजी आए थे, तो इस सड़क को अंधेरे में तय किया था, ठंड से ठिठुरते हुए। लेकिन इसकी खूबसूरती अब दिखनी शुरू हुई। सड़क तो वैसे पठार के ऊपर ही है, लेकिन पठार और गहरी घाटियों के किनारों से भी यह गुजरती है। दक्षिण में गहरी घाटियाँ दूर-दूर तक दिखती हैं। अगर मौसम एकदम साफ हो, तो धुर दक्षिण में बांग्लादेश का मैदानी इलाका भी देखा जा सकता है। इस समय मौसम तो वैसे साफ ही था, लेकिन दूर धुंध भी बनी हुई थी।

जब शिलोंग दस-बारह किलोमीटर रह गया, तो मासिनराम से आने वाली सड़क भी मिल गई। हम इसी सड़क पर मासिनराम की ओर चल दिए। अब तक तो हम पूरी तरह पठार पर आ गए थे और गहरी घाटियाँ पीछे कहीं छूट गई थीं। अब पूरे रास्ते हमें घाटियाँ नहीं मिलेंगी, हम पठार पर ही रहेंगे।

इस सड़क पर कुछ दूर चलते ही एक तिराहा मिला। सीधी सड़क मासिनराम और आगे बाघमारा जा रही थी और दाहिनी सड़क नोंगस्टोइन और तुरा। यहाँ से नोंगस्टोइन 72 किलोमीटर और तुरा 286 किलोमीटर था। नोंगस्टोइन तो खासी हिल्स में ही है, लेकिन तुरा गारो हिल्स में है। यहाँ से दाहिने मुड़ गए।

शिलोंग से चेरापूंजी और मासिनराम की सड़कें तो शानदार थीं ही। इन्हें शानदार बनाना भी पड़ेगा, क्योंकि मेघालय में दुनियाभर के यात्रियों की सबसे ज्यादा संख्या इन्हीं सड़कों से गुजरती है। कल हमने देखा था कि चेरापूंजी के बाद अत्यधिक खराब सड़क थी, क्योंकि उधर कोई नहीं जाता। इसी तरह शिलोंग से नोंगस्टोइन और तुरा भी लगभग न के बराबर बाहरी यात्री जाते हैं। आप इंटरनेट पर किसी भी ट्रैवल फोरम में देखेंगे, तो पाएँगे कि शिलोंग से तुरा जाने के लिए गुवाहाटी होकर जाने की सलाह दी जाती है। तो हमें लग रहा था कि अब यह सड़क खराब मिलेगी।

लेकिन ऐसा नहीं हुआ। यह सड़क मेघालय की किसी भी अन्य सड़क के मुकाबले शानदार है। हमें रोंगजेंग तक इस पूरी सड़क में एक भी कमी नहीं मिली। कोई गड्ढा तक नहीं और पूरी सड़क के दोनों किनारों पर सफेद लाइनें भी हैं। पठार होने के कारण भू-दृश्य भी 'अमेजिंग' है।

और हाँ, आगे बढ़ने से पहले यह भी बता दूँ कि दो महीने पहले ही प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी जी ने इस सड़क का उद्घाटन किया था। पूर्वोत्तर में यातायात के साधनों का विस्तार मोदी जी की प्राथमिकता में है और इधर घूमते हुए यह दिखाई भी देता है।

लेकिन एक कमी है। रास्ते में खाने-पीने के विकल्प न के बराबर हैं। सड़क नई ही बनी है। इससे पहले यह बदहाल ही रही होगी। इंटरनेट पर गुवाहाटी होकर जाने की सलाह से यही निष्कर्ष निकलता है। ठेठ स्थानीय इक्का-दुक्का लोग ही आते-जाते होंगे। तो उन्हीं के हिसाब से कुछ छोटी-मोटी दुकानें हैं। ऐसी ही एक दुकान में हम भी रुक गए। लिखा था - फास्ट फूड केवल रविवार को मिलता है। गौरतलब है कि रविवार को मेघालय के लोग 'आउटिंग' करते हैं। लेकिन आज रविवार नहीं था, तो हमें यहाँ चाय से ही काम चलाना पड़ा।

इधर ही एक जगह का नाम है - मामाराम।

यह सड़क तो पी.डब्लू.डी की है, लेकिन स्थानों के नाम देवनागरी और रोमन दोनों में लिखे हैं। मेघालय में देवनागरी दुर्लभ है, इसलिए इस सड़क से चलते हुए अपनापन भी लग रहा था।

पठार पर राइडिंग करने का यही मजा है। सड़कें घुमावदार होती हैं, लेकिन पहाड़ नहीं होते। मानसून में आते तो हरियाली भर-भर कर मिलती, लेकिन अभी भी कम हरियाली नहीं थी।

पश्चिमी खासी हिल्स जिले का मुख्यालय नोंगस्टोइन है। जाहिर है कि अच्छा-खासा शहर होगा। अन्यथा भीड़ भरा कस्बा तो होगा ही। पर्यटन से दूर मेघालय के ऐसे शहर कैसे लगते हैं, यह देखने की इच्छा थी। लेकिन जब यहाँ बाइपास मिला, तो शहर में जाने की सारी इच्छाएँ इधर-उधर हो गईं।

रास्ते में एक जगह बहुत सारे संतरे वाले बैठे थे। सभी स्थानीय ग्रामीण थे और इन्होंने सड़क किनारे ही बाँस-फूस की कामचलाऊ दुकानें बना ली थीं। हमें भी भूख लगी ही थी, तो रुक गए। उस दुकान की मालकिन ने एक हाथ में बीस का नोट और दूसरे हाथ में एक संतरा लेकर संकेतों से बताया कि एक संतरा बीस

रूपये का है। यह था तो महंगा ही, लेकिन हमने बिना मोलभाव किए तुरंत पाँच संतरे ले लिए और यहीं बैठकर खाने लगे।

पता नहीं यह स्थान खासी हिल्स में है या गारो हिल्स में, लेकिन दोनों की सीमा के आसपास ही है।

हमें देखकर एक आदमी भागा-भागा आया और अपनी भाषा में कुछ कहने लगा। वह खुश भी नजर आ रहा था, लेकिन ऊँचा बोलने के कारण हमें नाराज-सा भी लग रहा था। हम बाहरी हैं, यह तो हमारे चेहरों पर ही लिखा है। और यहाँ कभी कोई बाहरी नहीं आता। ये जितने भी संतरे वाले हैं, ये हम जैसे लोगों के लिए नहीं बैठे हैं। यहाँ से गुजरने वाली इक्का-दुक्का गाड़ियों के लिए हैं। उधर गारो हिल्स अशांत इलाका भी है।

कहीं हम गारो हिल्स में ही तो नहीं हैं?

कहीं यह आदमी भी उन 'अशांत' लोगों में से ही तो नहीं है?

“फटाफट संतरे खाओ और निकलो यहाँ से। और अगर एकाध आदमी और भी आ गया, तब तो बिना संतरे खाए ही निकलने में भलाई है।” मैंने दीप्ति से कहा।

लेकिन जल्दी ही पता चल गया कि यह इस दुकान का मालिक है और हमसे नाराज नहीं है। बल्कि बहुत खुश है। उसे हिंदी और अंग्रेजी नहीं आती थी, लेकिन बंगाली-असमिया के एक-दो शब्दों और हिंदी-अंग्रेजी के भी एक-दो शब्दों के इस्तेमाल से वह संवाद करने की कोशिश करता रहा। जब हम समझ गए कि यह खुश है, फिर हमें भी आनंद आने लगा।

“क्यमरा... क्यमरा...” उसने उंगली से मेरी तरफ इशारा करते हुए कहा।

“यह क्या कह रहा है?”

“शायद बता रहा होगा कि इनके गाँव में होटल भी है और रुकने को कमरे भी। कमरा, कमरा कह रहा है।”

फिर उसने कैमरे की ओर इशारा किया और हम समझ गए कि यह 'कमरा' नहीं, बल्कि 'कैमरा' कह रहा है। उसके कुछ फोटो खींचे। उसने फोटो मांगे, तो हमें समझाना पड़ा कि इससे फोटो नहीं निकल सकते। उसके पास नोकिया-1100 फोन था, तो वह इसी फोन में फोटो ट्रांसफर करने को कहने लगा। फिर हमने आखिरकार उसका नाम अपनी डायरी में लिख लिया। उसने रोमन में लिखा - एम. सेम।

“खसिया लोग... अच्छा होता।” वह बोला।

यानी हम अभी खासी हिल्स में हैं। चलते समय उसने कहा कि वापसी में उनके यहाँ ही रुकें। हमने चारों ओर देखा। जंगल था और जंगल में कहीं-कहीं घर भी थे। इन्हीं में से एक घर इनका भी होगा। हमारी यह मुलाकात और बातचीत एकदम अप्रत्याशित थी। अचानक ही इतनी बातचीत हो गई। शुरू-शुरू में तो हमने यहाँ से भाग जाने का भी सोच लिया था। अगर हमें ऐसी मुलाकात का जरा-सा भी अंदाजा होता या शाम का समय होता, तो हम इनके यहाँ रुक जाने के बारे में सोच सकते थे। अब हमें किसी भी तरह की लूटपाट का कोई डर नहीं था।

लेकिन इनके यहाँ रुकने में एक बात का डर था। वो यह कि ये लोग हमारी बहुत शानदार आवभगत करेंगे।

अब आप सोचेंगे कि शानदार आवभगत में कैसा डर?

तो जी, अगर आप शाकाहारी हैं और मद्यपान से भी दूर रहते हैं, तो आपको पूर्वोत्तर के जंगलों में 'शानदार आवभगत' से डरना ही चाहिए। ज्यादातर लोग नहीं जानते कि बाहर की दुनिया में शाकाहार जैसा भी कुछ होता है। और अगर आप उनके द्वारा जी-जान से बनाया भोजन खाने से इंकार कर देंगे, तो यह निश्चित ही अच्छा तो नहीं माना जाएगा।

एक ट्रक वाले को पचास रुपये के पाँच संतरे दिए, तो महिला हमें देखकर हँस पड़ी। लेकिन हमें बिल्कुल भी खराब नहीं लगा। हमें बिल्कुल भी एहसास नहीं हुआ कि इन्होंने हमें सौ रुपये लेकर ठग लिया है। शून्य पर्यटन और नगण्य ट्रैफिक वाली सड़क पर ये इतने सारे संतरे वाले बैठे हैं, इन्हें भला क्या आमदनी होती होगी!

लेकिन यह छोटी-सी आमदनी इन्हें पलायन करके शहरों में जाकर मजदूरी करने से रोके रखेगी।

भूख लगी ही थी। सुबह से हमने एक-एक कप चाय और दो-दो संतरे ही खाए थे। भोजन का अकाल शलांग में खत्म हुआ। यहाँ कोयले की खदानें हैं। इस बात का एहसास शलांग में प्रवेश करते समय ही हो जाता है। बाद में कोयला व्यापार से जुड़े बजरंग जी ने बताया कि फिलहाल एन.जी.टी. की रोक के कारण मेघालय में हर तरह के खनन पर रोक है।

लेकिन कोयले के कारण शलांग में अच्छा-खासा बाजार विकसित हो गया है। खाने-पीने के बहुत सारे विकल्प हैं। पूरे शलांग को धीरे-धीरे पार करने के बाद हम वापस मुड़े और अपनी समझ के अनुसार सर्वोत्तम रेस्टोरेंट में जा बैठे। यहाँ अंडा चाट थी, तवे की रोटियाँ थीं, दही थी और रसगुल्ले भी। और हाँ, हिंदी बोलने वाले भी।

चेरापूंजी से शलांग की 200 किलोमीटर की दूरी तय करने में पाँच घंटे लगे।

शलांग से कुछ ही आगे रोंगजेंग है। सीधी सड़क तुरा और बाघमारा की तरफ चली जाती है और दाहिने वाली सड़क दुधनोई। अभी पौने तीन बजे थे। सड़क हमारी उम्मीदों के उलट बेहद शानदार मिली। अब हम स्वयं को कोसने लगे कि चेरापूंजी से सुबह चार बजे ही क्यों नहीं चले। सीजू यहाँ से 60 किलोमीटर दूर ही है और हम अब तक गुफाएँ भी देख लेते। लेकिन अब सीजू जाने का इरादा नहीं था। हमें सीजू में ठहरने के प्रबंधों की कोई जानकारी नहीं थी। और गारो हिल्स में हम अंधेरे में बिल्कुल भी नहीं चलना चाहते थे।

दुधनोई की ओर मुड़ गए।

सारा रास्ता ढलान वाला ही है और असम के मैदान आने तक ढलान ही रहता है। असम में प्रवेश कर लिया, लेकिन असम ने हमारा स्वागत नहीं किया। पीछे मुड़कर देखा तो मेघालय स्वागत कर रहा था।



मेघालय में इतने दिन घूमने के बाद जब असम आए, तो लगा जैसे अपने ही घर में आ गए हों। जब तक आप असम नहीं जाते, तब तक यह आपको डरावना लगता है। लेकिन मेघालय आदि राज्य घूमने के बाद असम घर जैसा हो जाता है।

दुधनोई में बजरंग लाल पारीक जी मिले। मूल रूप से राजस्थान के हैं और अपने भाइयों समेत कोयले के कारोबार से जुड़े हैं। बताते हैं कि रोक के कारण कारोबार पर बहुत ज्यादा असर पड़ा है और अब बुढ़ापे में कोई नया रोजगार शुरू करना पड़ेगा।

आज हमने भारत की सर्वोत्तम सड़कों में से एक पर यात्रा की। यह सड़क रोंगजेंग से आगे कहाँ तक ऐसी ही शानदार बनी है, यह तो नहीं पता; लेकिन उम्मीद करता हूँ कि तुरा तक ऐसी ही हो।

पिछले छह दिनों से हम मेघालय में थे। प्राकृतिक सुंदरता के धनी इस प्रदेश में ऐसी मोटरसाइकिल यात्रा अपने आप में एक उपलब्धि ही है। दुधनोई से मेघालय की गारो पहाड़ियाँ दिखती हैं। इन्हें देख रहा था तो लगा मानों निमंत्रण दे रही हों

“बारिश में आना इधर। यह आपका भी घर है। बारिश के मौसम में आपका यह घर दुनिया में सबसे खूबसूरत हो जाता है। जो आपने इस बार नहीं देखा, वो आप तब देख लगे।”

“तब क्या देख लेंगे?”

“तब आप ‘मेघ-आलय’ देखोगे।”

13 फरवरी 2018

हम सोते रहे और बजरंग जी अपने कार्यालय चले गए। उनका कार्यालय जोगीघोपा में है, जो ब्रह्मपुत्र के उस तरफ है।

“जोगीघोपा कोयले की मंडी है। मेघालय से कोयला आता था और जोगीघोपा में इकट्ठा होता था, जिसे आगे ट्रेन से या ट्रकों से भेज दिया जाता था।”

“देश में तो ट्रेन से ही जाता होगा। ट्रकों से कहाँ तक जाता है यहाँ का कोयला?”

“नेपाल।”

“अब जब खनन पर रोक लग गई है, तो क्या करते हो कार्यालय में?”

“अभी उस कोयले की ढुलाई पर प्रतिबंध नहीं है, जो खोदा जा चुका है। नए खनन पर प्रतिबंध है। इसलिए फिलहाल काम चल रहा है।”

मैं पहले भी एक बार दुधनोई आ चुका था। चार साल पहले गुवाहाटी से न्यू बंगाईगाँव तक पैसेंजर ट्रेन में यात्रा कर रहा था, तो ट्रेन इधर से ही होकर गई थी। जोगीघोपा भी ट्रेन रुकी थी। सब याद आ गया। उस बार रेलमार्ग से ब्रह्मपुत्र को पार किया था, इस बार सड़क मार्ग से करेंगे। ब्रह्मपुत्र चाहे जैसे भी पार करो, अनुभव हमेशा रोमांचक ही होता है।

एक बंगाली इनके यहाँ रसोइये का काम करता है - “यह छोटा-सा था, जब पहली बार यहाँ आया था। इसे कुछ भी बनाना नहीं आता था। लेकिन अब यह सबकुछ बना लेता है, हम शाकाहारियों के लिए राजस्थानी भोजन भी।”

और वाकई उसके बनाए भोजन के साथ हम उंगलियाँ भी चाटते रहे।

नौ बजे दुधनोई से चल दिए और लक्ष्य रखा राजा भात खावा। यानी बक्सा टाइगर रिजर्व के पास। दूरी चाहे जो भी हो, लेकिन हम दिन छिपने से पहले पहुँच जाएँगे।

लगभग ढाई किलोमीटर लंबा नरनारायण सेतु पार किया। यह रेल-सह-सड़क पुल है। नीचे रेल चलती है, ऊपर सड़क। यह पुल ज्यादा पुराना नहीं है। शायद 1998 में इसे खोला गया था। उसी के बाद इधर से रेल भी चलना शुरू हुई। उससे पहले केवल रंगिया के रास्ते ही रेल गुवाहाटी जाती थी।

पुल पार करते ही जोगीघोपा है। कोयला ही कोयला और ट्रक ही ट्रक। लेकिन हमें बजरंग जी के कार्यालय जाने की जरूरत नहीं पड़ी। उन्हें पता नहीं कैसे हमारी भनक लग गई थी और वे हमें सड़क पर ही हाथ हिलाते मिले। एक बार फिर से पुल पर आकर फोटोग्राफी का दौर चला।

यहाँ राजस्थानी भोजनालय भी है। राजस्थानी भोजनालय मतलब शुद्ध शाकाहारी। कोयले और ट्रकों के कारण माहौल तो ‘काला-काला’ ही था, लेकिन यहाँ अच्छा खाना खाने वालों की अच्छी भीड़ थी।

चलते समय हमें रास्ता भी समझा दिया गया कि आगे चलकर एक तिराहा आएगा और उधर से जाना, इधर से मत जाना। दो-चार स्थानों के नाम और बताए, लेकिन वे सब हमारे पल्ले नहीं पड़े।

बंगाईगाँव के पास नेशनल ईस्ट-वेस्ट हाइवे मिल गया। फोर-लेन का यह हाइवे है। उधर गुवाहाटी से भी आगे नगाँव तक है। इधर पता नहीं कहाँ तक है।

कोकराझार वाले मोड़ पर रुक गए। भूख लगने लगी थी, कुछ संतरे ले लिए और एक खाली यात्री प्रतीक्षालय में बैठकर खाने लगे। एक सड़क कोकराझार जा रही थी और एक सड़क भूटान।

कोकराझार प्रस्तावित बोडोलैंड राज्य का मुख्यालय भी है। बोडो जनजाति के लोग हिंसक तरीके से काफी समय से अलग राज्य की मांग करते आ रहे हैं। वैसे राष्ट्रीय परिदृश्य में कोकराझार ज्यादातर हिंसाओं के कारण ही चर्चा में रहता है। कुछ साल पहले यहीं सिलीगुड़ी से शिलोंग जा रही बस से हिंदी-भाषी यात्रियों को उतारकर गोली मार दी गई थी।

हम कल्पना करने लगे कि उधर सड़क किनारे उस बस को रोका गया होगा। कुछ लोग हथियार लहराते हुए बस में चढ़ेंगे। सभी यात्रियों को उतारा गया होगा। सभी से असमिया में बात की गई होगी। और जो असमिया नहीं बोल पाया होगा, उसे वहीं गोली मार दी गई होगी। बस को रवाना भी कर दिया होगा और वे बेचारे अभागे वहीं सड़क पर पड़े रह गए होंगे।

आज हम उसी कोकराझार में इत्मीनान से बैठकर संतरे खा रहे थे। दूर एक मंदिर में हिंदी भजन बज रहे थे। कल महाशिवरात्रि जो है।

भूटान की बहुत सारी गाड़ियाँ मिलीं। ट्रक और कारों के अलावा लोकल बसें भी। दो देशों के मध्य लोकल बसें अक्सर नहीं चलतीं, लेकिन यहाँ खूब बसें दिखाई पड़ीं। लाल रंग की नंबर प्लेट दूर से ही दिख जाती।

जैसे-जैसे असम-बंगाल की सीमा नजदीक आती गई, ट्रकों का जमावड़ा भी बढ़ता गया। राज्यों की सीमा पर ट्रकों का जमावड़ा हमेशा ही देखने को मिलता है।

एक छोटी-सी नदी दोनों राज्यों की सीमा बनाती है। जैसे ही हम असम में 70-80 की स्पीड से आखिरी कुछ मीटर पार कर रहे थे, तभी मधुमक्खियाँ आ गईं। पटर-पटर खूब मधुमक्खियाँ हमसे टकराईं, लेकिन हम ऊपर से नीचे तक पूरे पैक थे, इसलिए कोई नुकसान नहीं हुआ।

पुल पार करते ही पश्चिम बंगाल है। हम रुक गए। मोटरसाइकिल से उतरकर पीछे मुड़कर असम को देखा। एक तरह से पूरे पूर्वोत्तर को देखा। उस तरफ असम में प्रवेश करती गाड़ियों को देखा। इतने दिनों से यहाँ घूमते रहने के बाद लगाव हो गया था। महसूस ही नहीं हो रहा था कि यह वो पूर्वोत्तर है, जहाँ बाकी देश के लोग जाने से डरते हैं। बाल-बच्चे वाले यात्री जाने से कतराते हैं। अब तो सिक्किम भी पूर्वोत्तर में गिना जाने लगा है। तो सभी सिक्किम घूमकर चले जाते हैं और समझ लेते हैं कि पूर्वोत्तर घूम लिया।

दिल्ली में कोई मुझसे कहता है कि पूर्वोत्तर के लोग 'चाइनीज' लगते हैं। मैं तुरंत प्रतिकार करता हूँ - "नहीं, हमें तो चीनी ऐसे लगते हैं, जैसे मेरे पूर्वोत्तर के हों।"

पूर्वोत्तर में हम कहीं भी जा सकते हैं, बिना किसी डर के। महिलाओं का सम्मान होता है वहाँ। दीप्ति के साथ होने से मेरा भी सम्मान हुआ। अभी नागालैंड और मणिपुर डराते हैं, लेकिन जब हम वहाँ जाएँगे और उनकी टूटी-फूटी हिंदी में सुर मिलाते हुए अपनी भी हिंदी तोड़-फोड़कर बोलने लगेंगे तो सारा डर समाप्त हो जाएगा।

क्या एम. सेम आज हमारी प्रतीक्षा नहीं कर रहा होगा?

यकीन नहीं हो रहा था कि हम मात्र एक पुलिया पार कर लेने से पूर्वोत्तर से बाहर निकल गए। पुलिया के उधर पूर्वोत्तर है, इधर नहीं है।

नहीं, यह सीमांकन गलत है। हम अभी भी पूर्वोत्तर में ही हैं। सिलीगुडी से इधर का सारा इलाका पूर्वोत्तर ही है। अभी हमने देखा ही क्या है! कंचनजंघा नहीं देखी। कंचनजंघा से इधर सब पूर्वोत्तर है।

ओके, ठीक है। हम और ज्यादा भावुक नहीं होंगे। हम अभी भी पूर्वोत्तर में ही हैं। मेरा पूर्वोत्तर बहुत बड़ा है।

आलिपुरदूआर ज्यादा दूर नहीं रह गया था। अभी दो ही बजे थे। घंटे-भर में राजा भात खावा पहुँच जाएँगे। वहीं बक्सा टाइगर रिजर्व का प्रवेश द्वार है। समय होगा तो जंगल में सफारी का आनंद भी लेंगे।

इस मुख्य सड़क से राजा भात खावा की ओर जाने वाली सड़क बहुत पतली थी। यह भी जंगल ही था। चारों ओर जंगल। शायद बक्सा का ही हिस्सा रहा होगा। लेकिन इतनी आवाजाही! इसकी तो हमने कल्पना भी नहीं की थी।

बक्सा टाइगर रिजर्व के मुख्य द्वार पर पहुँचे तो लोगों का, ऑटो वालों का जमावड़ा लगा मिला। चक्कर क्या है! जंगल में जाने के लिए इतनी भीड़!

“दादा, मामला क्या है?” फोरेस्ट वाले से पूछा।

“आज महाशिवरात्रि का मेला है उधर जयंती में।”

“कितना दूर है जयंती यहाँ से?”

“पंद्रह किलोमीटर।”

“ठहरने की सुविधा है क्या वहाँ पर?”

“बड़ी अच्छी सुविधा है। आराम से जाओ।”

“कोई परमिट?”

“आज कोई परमिट नहीं।”

टिकट-सूची पर निगाहें चली गई - 60 रुपये प्रति व्यक्ति और मोटरसाइकिल का चार्ज 20 रुपये। यानी मेले के कारण हमारे 140 रुपये बचने जा रहे हैं। मेले में गोलगप्पे और चाट-पापड़ी मारेंगे जमकर।

भीड़ तो थी, लेकिन नेशनल पार्क के भीतर होना अलग ही अनुभव होता है। और अगर आप अपनी मोटरसाइकिल पर हों, तो क्या कहने!

जयंती में एक ‘होम-स्टे’ दिखाई पड़ा। दीप्ति चली गई बात करने। लौटकर बताने लगी - “आज इनके सारे कमरे बुक हैं।”

“तो हम कहाँ रुकेंगे?”

“बता रही हैं कि आगे बहुत सारे होम-स्टे हैं।”

“आगे कहाँ? यहाँ तो जंगल ही जंगल है और आगे तो नदी का पाट है।”

जहाँ सभी लोग जा रहे थे, हम भी उधर ही चलने लगे। रुकने का इंतजाम हो जाएगा, तो बल्ले-बल्ले; अन्यथा वापस राजा भात खावा लौट जाएँगे। और वहाँ भी बात नहीं बनी तो आलिपुरदूआर भी दूर नहीं।

चौड़ी नदी थी। लेकिन पानी की केवल एक पतली-सी जलधारा थी। इतने बड़े पाट में पड़े बड़े-बड़े पेड़ों के तने बता रहे थे कि बारिश में यह कितनी खतरनाक हो जाती होगी।

तभी बहुत सारे ‘होम-स्टे’ दिख गए। नदी के एकदम किनारे। उनके और नदी के बीच में केवल तटबंध ही था, अन्यथा नदी उन्हें बहा ले जाती। इस बार भी

दीप्ति ही गई और 1000 रुपये में कमरा मिल गया।

“लेकिन खाना बाहर खाना पड़ेगा।”

“खा लेंगे। मेले में खाने की भला क्या समस्या!”

यह जयंती गाँव जंगल के भीतर बसा हुआ है। ज्यादा खोजबीन तो मैंने नहीं की, लेकिन नेशनल पार्क ने इसे हटाने के प्रयत्न अवश्य किए होंगे। फिलहाल यहाँ कई होम-स्टे हैं और मोबाइल का अच्छा नेटवर्क भी; पक्की सड़क भी और बिजली भी।

सामने जो नदी थी, इसके उस पार भूटान की पहाड़ियाँ दिख रही थीं। नदी के साथ-साथ यात्री ऊपर की ओर जा रहे थे। कुछ वन विभाग की जीपों में, तो ज्यादातर पैदल।

हम इस नेशनल पार्क में अचानक इस तरह आ जाने से बड़े खुश थे। भले ही हम कहीं न जाएँ, लेकिन इस बात का एहसास बराबर बना हुआ था कि हम घने जंगल के बीचोंबीच हैं - टाइगर रिजर्व के बीचोंबीच।

जयंती बाजार में टहलने निकल पड़े। यह केवल मेले के दिनों में ही बाजार रहता है, बाकी पूरे साल तो यहाँ सन्नाटा पसरा रहता होगा। खाने-पीने की कोई कमी नहीं। और केवल विशुद्ध शाकाहारी भोजन। मेले और भीड़ के कारण भले ही खाने की गुणवत्ता उतनी अच्छी न हो, लेकिन हम आँख मीचकर खा सकते थे, बिना मांसाहार की चिंता किए। अन्यथा बंगाल में मांसाहार बड़ा सुलभ है।

“ये सभी लोग कहाँ जा रहे हैं?”

“महाकाल।”

“कितना दूर है?”

“यहाँ से तीन किलोमीटर आगे तक गाड़ियाँ जा सकती हैं और उसके बाद तीन किलोमीटर आगे पैदल जाना होता है, तब महाकाल पहुँचते हैं।”

“मेला कल भी रहेगा क्या?”

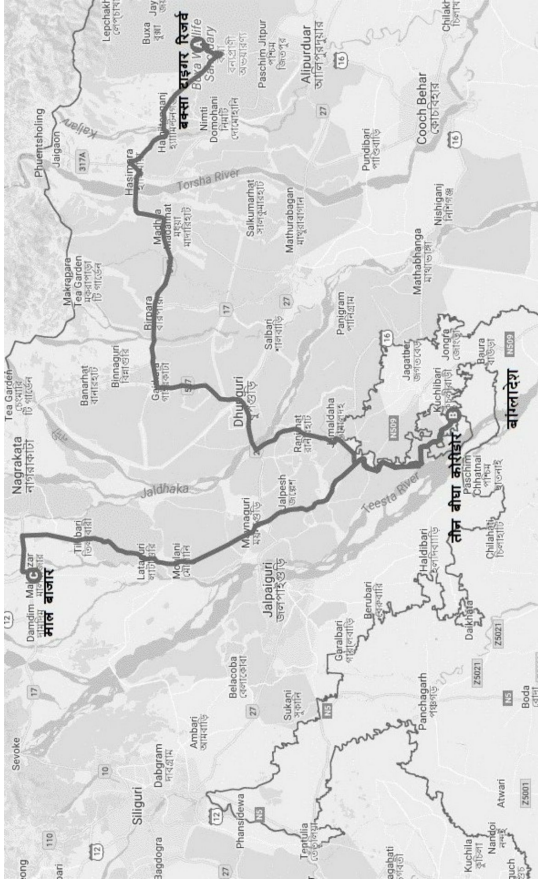
“तीन दिनों तक मेला चलता है। आज पहला दिन है।”

“यानी जो लोग आज जा रहे हैं, वे कल तक लौटेंगे?”

“नहीं, भीड़ बहुत है। वे आज लाइन में लगेंगे और परसों तक उनका नंबर आएगा दर्शन करने का।”

यह सुनते ही हमारी आँखें फटी रह गईं। बिना कुछ बोले ही दोनों ने तय कर लिया कि हम महाकाल के दर्शन करने नहीं जा रहे। यहीं से प्रणाम कर लेंगे।

यह होम-स्टे बड़ा आलीशान बना था। बाँस के कमरे थे और शानदार सजावट थी। कमरों के एकदम सामने नदी का तटबंध था और तटबंध के उस पार थी विशाल चौड़ी नदी। गूगल मैप में इसे गदाधर नदी लिखा है, लेकिन कहीं पर मैंने इसे जयंती नदी भी लिखा देखा है।



12. तीन बीघा कोरीडोर

14 फरवरी 2018

उठे तो बाहर खूब चहल-पहल हो रही थी। या यूँ कहिए कि चहल-पहल की आवाज सुनकर ही हमारी आँखें खुलीं। ये महाकाल जाने वाले यात्री थे, जो अब तक नहा-धोकर तैयार हो चुके थे। हमें महाकाल तो नहीं जाना था, लेकिन जहाँ तक गाड़ियाँ जा रही हैं, वहाँ तक अवश्य जाएँगे। तीन किलोमीटर का यह रास्ता पूरी तरह 'रिवर-बेड' पर ही बना है।

एक द्वार बना था – जयंती महाकाल पार्किंग जोन। अंदर बहुत सारी बसें, गाड़ियाँ और मोटरसाइकिलें खड़ी थीं। मैं मोटरसाइकिल लिए बाहर ही रुका रहा और दीप्ति अंदर चली गई।

नेशनल पार्क के सफारी वाले इस समय सवारियाँ ढोने में लगे थे – जयंती से यहाँ तक और यहाँ से जयंती तक।

“जोयंती, जोयंती; दोश टोका, दोश टोका।”

एक परिवार आया – “जोयंती?”

“हाँ जी, आओ बैठो।” उसने बंगाली में ही कहा।

“कितने पैसे?”

“बीस रुपये।”

“नहीं जाना।” और वे पैदल ही जाने लगे।

“पंद्रह दे दो।”

और सब बैठ गए।

पार्किंग में जाने के लिए लंबी लाइन लगी थी। कर्मचारी एक-एक करके पर्ची काट रहे थे। कोई उत्साही कारवाला लाइन तोड़कर सबसे आगे घुसने की कोशिश करता, तो कर्मचारी उसे वापस पीछे भेज देते। मैं खड़ा सब देखता रहा। कारवाले हमेशा ही उत्साही होते हैं। वे सबसे आगे निकलने की होड़ में रहते हैं। मुझे उनकी यही बात खराब लगती है।

और बहुत सारे मोटरसाइकिल वाले गोली की स्पीड से पार्किंग में घुसते और कर्मचारी के रोकने के इशारे को नजरअंदाज करते हुए भीतर चले जाते और कहीं अपनी मोटरसाइकिल खड़ी करके भगवान के दर्शन करने चल देते।

आधे घंटे बाद दीप्ति लौटी – “अंदर बड़ी भीड़ है। पैदल के रास्ते पर बहुत सारी दुकानें और भंडारे भी हैं।”

“क्या? भंडारे भी?”

“हाँ। मैं तो हलुवा खाकर आई हूँ।”

“ऐसी बात है? तो अब तू मोटरसाइकिल संभाल। मैं हलुवा मारकर आता हूँ।”

इस टाइगर रिजर्व के अंदर और भी गाँव हैं व और भी दर्शनीय स्थल हैं। लेकिन भीड़ बहुत थी। दोपहर होते-होते हम उकता गए और आखिरकार बाहर निकल गए। निःसंदेह यह स्थान बेहद सुंदर है। कभी दोबारा आएँगे और फुरसत से घूमेंगे।

हालाँकि दोबारा आना कभी नहीं होता और फुरसत से घूमना तो कतई नहीं।

राजा भात खावा स्टेशन पर एक डी.एम.यू. खड़ी थी। यह सिलीगुड़ी से आई थी और दिनहाटा तक जाने वाली थी। दो घंटे की देरी से चल रही थी। भीड़ बिल्कुल भी नहीं थी।

अब हमें तीन बीघा कोरीडोर जाना था, जो यहाँ से 150 किलोमीटर दूर था। लेकिन वहाँ रुकना नहीं था। दोपहर हो चुकी थी और मन में आ भी रहा था कि तीन बीघा जाएँ या न जाएँ। हमें आज भूटान सीमा के आसपास ही कहीं रुकना था। आज भी भूटान सीमा ज्यादा दूर नहीं थी। ऐसे में दक्षिण में सौ-डेढ़ सौ किलोमीटर बांग्लादेश सीमा तक जाकर सौ किलोमीटर उत्तर में भूटान सीमा तक आना कुछ जँच नहीं रहा था। आज हम बांग्लादेश सीमा, जलपाईगुड़ी या धूपगुड़ी के आसपास भी नहीं रुकना चाहते थे और तीन बीघा कोरीडोर को देखने से वंचित भी नहीं होना चाहते थे।

आज महाशिवरात्रि थी। तकरीबन हर गाँव में मेले जैसा माहौल मिला। कालचीनी में तो भंडारा भी दिखा। कालचीनी तक पूरा रास्ता रेलवे लाइन के साथ-साथ है। चाय के बागान भी खूब हैं इधर। कालचीनी में बड़ी चहल-पहल थी।

इसके बाद हासीमारा में भी चहल-पहल मिली।

हासीमारा से जयगाँव का रास्ता जाता है, जहाँ से भूटान जाने का परंपरागत रास्ता है। थिंपू यहीं से ज्यादा नजदीक है। खूब बसें जयगाँव जा रही थीं। पश्चिम बंगाल की लोकल बसों के साथ-साथ भूटान की भी लोकल बसें। भूटान की बसें सीधे थिंपू तक जा रही थीं।

गौरतलब है कि हम भारतीयों का भूटान जाने का कोई वीजा नहीं लगता और पासपोर्ट की भी आवश्यकता नहीं। लेकिन जिस तरह नेपाल में बिना किसी रोक-टोक के जा सकते हैं, उस तरह भूटान नहीं जा सकते। सीमा पर कुछ औपचारिकताएँ करनी होती हैं। भूटान की सीमा चीन से भी मिलती है, लेकिन चीन के साथ उनका किसी भी तरह का संबंध नहीं है। सभी संबंध भारत के ही साथ हैं और यह छोटा-सा हिमालयी देश अपनी हर जरूरत के लिए भारत पर ही निर्भर है।

और भारत भी अपनी दोस्ती अच्छी तरह निभाता है। तभी तो कोलकाता तक से भूटान परिवहन की बसें सीधे थिंपू तक जाती हैं। सिलीगुड़ी से तो लोकल बसें जाती हैं। हासीमारा में हर दूसरी गाड़ी भूटान की थी। लग रहा था कि मेरठ से दिल्ली के लिये उतनी बसें नहीं चलती होंगी, जितनी हासीमारा से भूटान के लिए चलती हैं।

हम भी आसानी से अपनी मोटरसाइकिल से भूटान जा सकते थे, लेकिन हमारी यह यात्रा भूटान यात्रा नहीं थी।

हासीमारा में रेलवे स्टेशन भी है। आनंद विहार जाने वाली पूर्वोत्तर संपर्क क्रांति एकदम ठीक समय पर यहाँ से गुजरी। हालाँकि दिल्ली पहुँचते-पहुँचते वह कम से कम दस घंटे लेट हो जाएगी।

पता ही नहीं चला कब जलदापाड़ा नेशनल पार्क के पास से निकल गए। यहाँ दूआर में बहुत सारे नेशनल पार्क हैं। ज्यादातर तो भूटान सीमा से मिले हुए हैं, लेकिन कुछ राज्य के अंदर भी हैं और चारों ओर से मैदानी जनसंख्या से घिरे हुए हैं। जलदापाड़ा के अंदर से तोरशा नदी बहती है।

जब इसी सड़क पर चलते-चलते कुछ ही देर में धूपगुड़ी पहुँच गए, तो निश्चित हो गया कि हम तीन बीघा काँरीडोर जा रहे हैं। जलढाका नदी पार करके रानीरहाट की ओर मुड़ गए और सीधे चौरंगी पहुँच गए। उत्तर बंगाल का यह इलाका एकदम शून्य पर्यटन वाला है और ऐसे इलाके में घुमक्कड़ी करते हुए अजीब-सा डर भी लगता है। हम बांग्लादेश सीमा की ओर बढ़े जा रहे थे और यह वो इलाका भी है, जो पूरी दुनिया में बेहद विशिष्ट भी रहा है और खतरनाक भी।

हम इतिहास की गहराइयों में नहीं जाएँगे, लेकिन इतना जान लीजिए कि आजादी से पहले इधर दो प्रमुख रियासतें हुआ करती थीं – कूचबिहार रियासत और रंगपुर रियासत। बँटवारा हुआ तो कूचबिहार भारत में आ गया और रंगपुर पूर्वी पाकिस्तान में। लेकिन इन दोनों रियासतों की सीमाएँ बड़ी अजीबो-गरीब थीं। एक रियासत के अंदर दूसरी रियासत की जमीनें थीं, जिन्हें 'एंक्लेव' कहते हैं। यहाँ तक कि एक एंक्लेव के अंदर दूसरा एंक्लेव भी था और एक जगह तो तिहरा

एंकलेव भी। बँटवारे में एंकलेव भी बँट गए। 1971 में बांग्लादेश बना, तब तक भी मामला ऐसा ही था।

मुझे पता है कि ऊपर का पैरा आप बिल्कुल भी नहीं समझे होंगे। चलिए, आसान शब्दों में बताता हूँ। एंकलेव मतलब एक देश की मुख्यभूमि के अंदर दूसरे देश के आठ-दस गाँव, जो चारों ओर से पूरी तरह पहले देश से घिरे हुए हों। भारत के अंदर बांग्लादेश के गाँव भी थे और बांग्लादेश के अंदर भारत के गाँव भी। ऐसे एक-दो नहीं, बल्कि लगभग 200 एंकलेव थे। यानी भारत के उस एंकलेव में स्थित आठ-दस गाँवों के लोगों को अगर कोलकाता या सिलीगुड़ी कहीं भी जाना होता था, तो बांग्लादेश से होकर ही निकलना पड़ता था। इसी तरह बांग्लादेश वालों को अपने ही देश में जाने के लिए भारत से होकर जाना होता था। और आप जानते ही हैं कि भारत और बांग्लादेश के बीच वीजा लेकर ही आवागमन किया जा सकता है। इन गाँवों में कोई वीजा अधिकारी नहीं बैठा होता था।

अब तो समझ गये ना आप? ठीक है, तो अब आपके दिमाग की और ज्यादा चक्कर-घिरनी बनाते हैं।

एंकलेव वाले इन आठ-दस गाँवों के बीच में एक-दो गाँव फिर से 'उप-एंकलेव' होते थे। यानी बांग्लादेश के अंदर भारत के जो आठ-दस गाँव थे, उनके बीच में एक-दो गाँव बांग्लादेश के भी होते थे, जो चारों ओर से भारत के उन आठ-दस गाँवों से घिरे होते थे। यानी एक गाँव बांग्लादेश का, उसके चारों ओर के आठ-दस गाँव भारत के और उनके चारों ओर बांग्लादेश की मुख्यभूमि। यानी बांग्लादेश के उस एक गाँव के लोगों को अपने ही देश में जाने के लिए भारत के उस हिस्से से होकर जाना पड़ेगा, जो स्वयं चारों ओर से बांग्लादेश से घिरा है।

दोनों देशों में एक-दूसरे के इस तरह के 40-50 'उप-एंकलेव' थे।

लेकिन बात यहीं खत्म नहीं होती। एक हेक्टेयर से भी कम का एक छोटा-सा खेत तो पूरी दुनिया में अपनी तरह का अनूठा नमूना था। यह 'उप-उप-एंकलेव' था। इसे यूँ समझिए कि बांग्लादेश की मुख्यभूमि के अंदर भारत के आठ-दस गाँव थे, भारत के इन आठ-दस गाँवों के अंदर बांग्लादेश के एक-दो गाँव थे और बांग्लादेश के इन एक-दो गाँवों के अंदर भारत का एक हेक्टेयर से भी छोटा खेत था। इस छोटे-से खेत के चारों कोनों पर 'बॉर्डर-पिलर' तक लगे थे। इस खेत का मालिक खेत में नहीं रहता था, बल्कि भारत के उन आठ-दस गाँवों में से किसी एक में रहता था और उसे अपने घर से कुछ ही दूर स्थित अपने खेत में जाने के लिए बांग्लादेश से होकर जाना पड़ता था।

सोचकर भी हैरानी होती है कि उसके खेत की चारों सीमाएँ अंतर्राष्ट्रीय सीमाएँ थीं।

यह सब पढ़ना बड़ा मजेदार लगता है। 2013 में जब मुझे पहली बार इस बात का पता चला तो मैं भी रोमांचित हो उठा था। सोच लिया था कि जाऊँगा किसी दिन वहाँ। इंटरनेट पर इसके बारे में पढ़ने लगा था। और तब पता चला कि लगभग 200 एंकलेवों के निवासी किसी भी देश के नागरिक नहीं हैं। इसलिए अपराध-दर बहुत ज्यादा है। पुलिस जैसी चीज नहीं। एक देश का गाँव दूसरे देश के

गाँव पर आक्रमण कर देता है और कोई कुछ भी नहीं कर सकता। सेना को भी अपने ही इलाके में जाने के लिए दूसरे देश से होकर जाना पड़ता है और कोई दूसरे देश की सेना को ऐसी अनुमति कैसे दे सकता है?

बड़ा पेचीदा मामला था। दोनों तरफ से एंकलेवों के आदान-प्रदान की मांग बढ़ती जा रही थी। आखिरकार यह मांग 2015 में पूरी हुई। भारत के बहुत सारे एंकलेव बांग्लादेश में चले गए और बांग्लादेश के बहुत सारे एंकलेव भारत में आ गए। भारत के उस छोटे-से खेत का भी बांग्लादेश में विलय हो गया। वर्तमान में एक ही एंकलेव बाकी है – बांग्लादेश का दहग्राम; जो कि चारों ओर से भारत की मुख्यभूमि से घिरा है।

दहग्राम लगभग 9 किलोमीटर लंबा और 4 किलोमीटर चौड़ा क्षेत्र है, जो भारत से घिरा है। बांग्लादेश की मुख्यभूमि से इसकी न्यूनतम दूरी 200 मीटर है। 1974 में एक समझौता हुआ था जिसके तहत बांग्लादेश अपना कोई अन्य इलाका भारत को देगा और भारत यह 200 मीटर की पट्टी बांग्लादेश को सौंपेगा। ऐसा करने से दहग्राम सीधा बांग्लादेश की मुख्यभूमि से जुड़ जाता।

इसी 200 मीटर लंबी और 80 मीटर चौड़ी पट्टी को 'तीन बीघा कोरीडोर' कहते हैं।

लेकिन अगर तीन बीघा कोरीडोर बांग्लादेश में चला जाता, तो भारत का कूचलीबाड़ी क्षेत्र भारत की मुख्यभूमि से लगभग अलग हो जाता और एक एंकलेव-जैसा बन जाता। क्योंकि कूचलीबाड़ी के पश्चिम में तीस्ता नदी है और वे लोग जलमार्ग का प्रयोग करके भारत की मुख्यभूमि में जा सकते थे, लेकिन जब तीन बीघा कोरीडोर के माध्यम से थलमार्ग का विकल्प है, तो क्यों जलमार्ग के भरोसे रहें? तीन बीघा कोरीडोर को बांग्लादेश को सौंपने के विरोध में कूचलीबाड़ी वालों ने बड़ी मेहनत की, हिंसा भी हुई और आखिरकार 7 अक्टूबर 1982 को यह कोरीडोर बांग्लादेश के लिए भी खोल दिया गया, लेकिन इसका प्रभुत्व भारत के ही पास रहा। इससे कूचलीबाड़ी भी भारत की मुख्यभूमि से थलमार्ग से जुड़ा रहा और दहग्राम भी बांग्लादेश की मुख्यभूमि से जुड़ गया।

फिलहाल इस कोरीडोर में दो सड़कें एक-दूसरे को नब्बे डिग्री पर काटती हैं। एक उत्तर-दक्षिण सड़क जो कूचलीबाड़ी के लिए है और दूसरी पूर्व-पश्चिम सड़क जो दहग्राम के लिए है।

इतना लिखने का मतलब यह है कि अब हम जहाँ जा रहे हैं, आप वहाँ के बारे में परिचित हो सकें। बिना परिचय के कहीं भी जाना अच्छा नहीं लगता। लेकिन याद रखना कि अभी हम वहाँ पहुँचे नहीं हैं। अभी हम चांगराबांधा में ही हैं। चांगराबांधा में रेलवे स्टेशन है और कुछ ही दूर भारत-बांग्लादेश की सीमा भी है। बांग्लादेश जाने वाले ट्रकों की लंबी लाइन लगी थी। ज्यादातर ट्रक तो भारतीय ही थे, कुछ ट्रक भूटान के भी थे और बहुत सारे ट्रक बांग्लादेशी भी। मुख्यतः पत्थर की ढुलाई होती है यहाँ से।

चांगराबांधा से तीन बीघा कोरीडोर 21 किलोमीटर दूर है और अच्छी सड़क बनी है। हमें लगातार एहसास बना हुआ था कि हमारे बायीं तरफ बांग्लादेश की

सीमा है और जब एक जगह तारबंदी दिखाई पड़ी तो हम रोमांचित हो उठे। लेकिन चूँकि यह शून्य पर्यटन वाला क्षेत्र है और कुछ ही समय पहले यहाँ सीमाओं का स्थायी बंदोबस्त हुआ है, इसलिए रुककर फोटो लेने की हिम्मत नहीं पड़ी।

हमें आते देख कई बच्चे सड़क पर आ गए और रुकने का इशारा करने लगे। मेरी धड़कनें बढ़ गईं। पता नहीं क्या गड़बड़ है। लेकिन नजदीक पहुँचकर जब देखा कि बगल में मंदिर है और बच्चे महाशिवरात्रि के लिए चंदा मांग रहे हैं, तो सारा डर समाप्त हो गया।

एक जगह एक बोर्ड लगा था – एंकलेव सेटलमेंट कैंप। मैं बताना भूल गया था कि 2015 में जब एंकलेवों का आदान-प्रदान हुआ और देशों की सीमाएँ बदलीं, तो बांग्लादेश के बहुत सारे गाँव भारत में आ गए और भारत के बहुत सारे गाँव बांग्लादेश में। इनके निवासियों को किस देश में रहना है, वो सब इन्हीं के ऊपर छोड़ दिया गया। ज्यादातर लोगों ने अपने मूल गाँवों में ही रहना पसंद किया, भले ही अब देश बदल गए हों। लेकिन बहुत सारे लोगों ने भारत में रहने के लिए या बांग्लादेश में रहने के लिए अपने गाँव भी छोड़े। इन्हीं सारे कामों के लिए ‘एंकलेव सेटलमेंट कैंप’ बनाए गए थे।

मेखलीगंज के बाद सड़क के दाहिने किनारे बी.एस.एफ. के वाच-टावर दिखे, तो समझ गया कि इधर दहग्राम का क्षेत्र है। हालाँकि कहीं भी तारबंदी नहीं दिख रही थी, लेकिन एहसास बना हुआ था कि हमारे दोनों ओर बांग्लादेश है।

और जब तीन बीघा कोरीडोर से 200 मीटर पहले सड़क के एकदम नजदीक तारबंदी मिली तो रोमांच चरम पर पहुँच गया। धीरे से कोरीडोर में प्रवेश कर गए। एक तरफ एक कार खड़ी थी, हमारी मोटरसाइकिल भी वहीं खड़ी हो गई। सीधी सड़क कूचलीबाड़ी जा रही थी, दाहिने दहग्राम और बाएँ बांग्लादेश की मुख्यभूमि की ओर।

यहीं चौराहे पर बी.एस.एफ. का एक आदमी खड़ा था और उसके साथ एक बांग्लाभाषी भारतीय।

“यहाँ से बांग्लादेशियों का निरंतर आवागमन होता है। लेकिन बी.एस.एफ. हमेशा बांग्लाभाषी की ज्यूटी तो नहीं लगा सकती, इसलिए एक ‘सिविलियन’ की यहाँ ज्यूटी लगाई जाती है, ताकि आवश्यकता पड़ने पर बांग्लादेशियों से बंगाली में बात की जा सके।” फौजी ने बताया, जो राजस्थान का रहने वाला था।

“लेकिन यहाँ तो कोई भी घूमने नहीं आता, आप लोग कैसे आ गए?” फिर उन्होंने हमसे पूछा।

“यह जगह पूरी दुनिया में बड़ी ही विशिष्ट है। ऐसा कोरीडोर दुनियाभर में शायद ही कहीं हो।”

“हाँ, यह बात तो है।”

एक सड़क पर बांग्लादेशियों का आवागमन होता है और दूसरी पर भारतीयों का। बसें भी चलती हैं। लेकिन बांग्लादेशी यात्री इसे अक्सर पैदल ही पार करते हैं। उन्हें भी पता होता है कि वे दूसरे देश से होकर गुजर रहे हैं, इसलिए धीरे-धीरे चलते हुए इस अनुभव को देर तक महसूस करते हैं।

“इनकी आई.डी. चेक नहीं होती क्या?”

“नहीं, इस सड़क पर केवल बांग्लादेशी ही आते-जाते हैं। इधर से आएँगे तो उधर से निकल जाएँगे और उधर से आएँगे तो इधर से निकल जाएँगे। हम किसी की आई.डी. चेक नहीं करते। हाँ, कोई बांग्लादेश से आकर भारत में न चला जाए, इसका हम ध्यान रखते हैं। कई बार जानबूझकर और कई बार अनजाने में लोग ऐसा कर देते हैं। तब हम उन्हें टोकते हैं, अन्यथा नहीं टोकते।”

“और अगर कोई भारतीय बांग्लादेश की ओर जाती सड़क पर जाए तो?”

“ऐसा करना ‘एलाऊ’ नहीं है।”

“लेकिन 200 मीटर लंबी यह सड़क तो भारत की है।”

“हाँ, पहले ऐसा होता था। इस सड़क के दोनों तरफ गेट हैं, जो खुले ही रहते हैं। दोनों तरफ संतरी भी बैठते हैं। लेकिन यह सड़क बांग्लादेशियों के आवागमन के लिए है और हम उन्हें टोकते नहीं हैं। तो एक बार पाँच भारतीय यूँ ही टहलते-टहलते गेट पार कर गए थे। दोनों ही देशों के संतरियों ने सोचा कि ये पाँचों बांग्लादेशी ही होंगे, तो किसी ने नहीं टोका उन्हें। बाद में बड़े पंगे हुए, बात दिल्ली तक पहुँच गई थी। तो फिलहाल हमारे मेजर साहब ने बिना अनुमति किसी भी भारतीय के लिए इस सड़क पर जाना मना कर रखा है।”

“सही बात है।”

“लेकिन आप एक बार मेजर साहब से बात करके देख लो। शायद तुम्हें जाने देंगे।”

मेजर साहब से बात की और उधर तक जाने की अनुमति मिल गई। साथ ही फोटो खींचने की भी। मैं अक्सर सैनिकों और सैन्य प्रतिष्ठानों के फोटो नहीं खींचता हूँ, लेकिन तीन बीघा कोरीडोर में गेट पर खड़े होकर फोटो खींचना तो बनता था।

दहग्राम की तरफ गेट के उस तरफ बांग्लादेश बॉर्डर गार्ड की चौकी है। चौकी के साथ ही चाय की एक दुकान भी। हम चाय पीने सीमा पार आसानी से जा सकते थे, लेकिन मेजर साहब ने हमें यहाँ गेट तक आने दिया, यही काफी था। एकदम गेट पर खड़े होने का अलग ही एहसास था। सड़क पर एक सफेद लाइन बनी है – इधर भारत, उधर बांग्लादेश।

चायवाला यहाँ तक आकर चाय पकड़ा जाता, इतनी अक्ल तब नहीं आई।

हम भारतीय लोग बांग्लादेश के बारे में अच्छी राय नहीं रखते, लेकिन हमें याद रखना चाहिए कि बांग्लादेश हमारा बहुत अच्छा पड़ोसी है। अभी पिछले दिनों पाकिस्तान को अलग-थलग करने के मामले में बांग्लादेश ने भारत का साथ दिया था। पहले भी यह हर कदम पर भारत का ही साथ देता रहा है। बांग्लादेश और भारत का कोई सीमा विवाद भी नहीं है। हालाँकि बांग्लादेशी घुसपैठियों के कारण भारत को बहुत नुकसान हो रहा है। हमें उन घुसपैठियों को देश से निकाल देने का और उनकी आलोचना करने का पूरा अधिकार है, लेकिन एक अच्छे पड़ोसी की आलोचना करने का नहीं। भारत इन घुसपैठियों से बचने के लिए ही बांग्लादेश से लगती सीमा पर तारबंदी कर रहा है, लेकिन इससे भारत और बांग्लादेश के

संबंधों पर कोई असर नहीं पड़ा है।

जब मुझसे कोई पूछता है कि नेपाल और भूटान के अलावा किस अन्य देश में जाने की इच्छा होती है, तो मेरा जवाब होता है – बांग्लादेश।

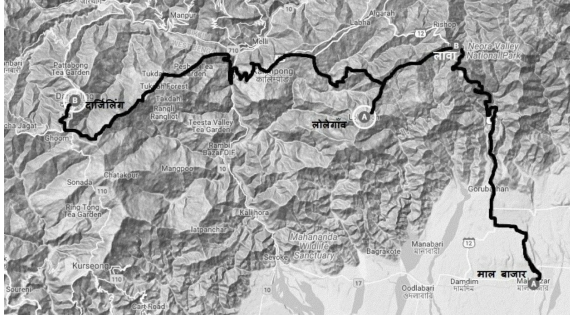
इधर बांग्लादेश की मुख्यभूमि की तारबंदी हो चुकी है, लेकिन दहग्राम एंकलेव की तारबंदी नहीं हुई है। जब वापस लौट रहे थे, तो सड़क किनारे कुछ वाच-टावर दिखे। असल में यहाँ 100 मीटर तक यह सड़क ही सीमा है, लेकिन तारबंदी न होने के कारण हमें पता नहीं चला और बॉर्डर-पिलर पर ध्यान नहीं दिया।

चांगराबांधा में सीमा तक जाने की इच्छा थी, लेकिन ट्रक इस कदर खड़े थे कि जाया ही नहीं जा सका। इमीग्रेशन का सारा काम चांगराबांधा में ही होता है। तीन बीघा में इमीग्रेशन की सुविधा नहीं है।

पाँच बज चुके थे, सूरज छिपने वाला था और हमारी इच्छा 70 किलोमीटर दूर माल बाजार में रुकने की थी। सड़क अच्छी है। ट्रैफिक भी कम ही था। मैनागुड़ी पार करके लाटागुड़ी आया तो सड़क किनारे आलीशान होटल और फार्म-हाउस आदि दिखने लगे। हम सोचने लगे कि यहाँ लाटागुड़ी में ऐसा क्या है, जो इतने आलीशान होटल हैं। लेकिन जैसे ही लाटागुड़ी पार किया, इसका भी पता चल गया। यहाँ असल में गोरूमारा नेशनल पार्क है। दिन होता तो हम शायद इस नेशनल पार्क में घूमने के बारे में सोच लेते, लेकिन अब सीधे माल बाजार की ओर ही चलते रहे।

लेकिन यह सड़क नेशनल पार्क के अंदर से गुजरती है। शानदार सड़क, रात का अंधेरा और चारों ओर घना जंगल।

और चालसा होते हुए माल बाजार पहुँच गए।



13. लावा और नेवरा वैली नेशनल पार्क

15 फरवरी 2018

हमने सोच रखा था कि अपनी इस यात्रा में 2000 मीटर से ऊपर नहीं जाएँगे। क्योंकि मुझे लग रहा था कि इतनी ऊँचाई पर कहीं न कहीं ब्लैक आइस मिलेगी और मुझे ब्लैक आइस से बड़ा डर लगता है। और आज जब हम माल बाजार में थे, तो लावा जाने और न जाने का मामला बराबर अधर में लटका हुआ था।

“लेकिन लावा क्यों? अभी हमारे पास कई दिन हैं और हम सिक्किम भी घूमकर आ सकते हैं।” दीप्ति ने पूछा।

“वो इसलिए कि अपनी मोटरसाइकिल से सिक्किम जाने में गुरदोंगमर झील भी जाना जरूर बनता है और फिलहाल या तो वहाँ का रास्ता बंद मिलेगा या खूब सारी ब्लैक आइस मिलेगी। मैं बिना गुरदोंगमर के सिक्किम नहीं घूमना चाहता।”

दूसरी बात, कोई भी उत्तर भारतीय यात्री लावा घूमने नहीं जाता। वे दार्जिलिंग जाते हैं, सिक्किम जाते हैं, लेकिन लावा नहीं जाते। उत्तर बंगाल में जहाँ से भी कंचनजंघा दिख जाए, वही स्थान घूमने योग्य है। इसीलिए दार्जिलिंग प्रसिद्ध है। लावा से भी कंचनजंघा दिखती है, लेकिन दार्जिलिंग के आगे यह प्रसिद्ध नहीं हो पाया। फिर यह 2000 मीटर से ऊपर है। एक अलग ही नशा होता है, इतनी ऊँचाई वाले किसी अप्रसिद्ध स्थान में।

माल बाजार में आलू के पराँठे खाते हुए कुल्हड़ की मिष्टी दोई मिल गई, तो समझ आ गया कि हमारी यात्रा सही दिशा में जा रही है। उस कुल्हड़ को हमने जितनी तल्लीनता से नहीं चाटा होगा, बाद में एक पिल्ले ने उसे उससे ज्यादा तल्लीनता से चाट लिया।

माल बाजार से मोटरसाइकिल बाहर क्या निकली, सब हवा ही बदल गई। चारों ओर चाय के बागान, तराई के ढलान, घुमावदार सड़क और चाय से ढकी हुई छोटी-छोटी पहाड़ियाँ। मैं तीस सेकंड की वीडियो बनाने को कहता, दीप्ति तीस मिनट की बना देती। जितने खूबसूरत बागान यहाँ देखने को मिले, उतने कहीं और नहीं मिले। बंगाल के इस इलाके को दूआर कहते हैं। और दूआर अपने चाय-बागानों के लिए ही प्रसिद्ध है। कोई दूआर घूमने जा रहा है, तो समझ लीजिए कि वह चाय-बागानों में बैठकर चाय पीने जा रहा है।

गोरूबथान के बाद चढ़ाई शुरू हो गई। शुरू में अच्छी सड़क है, लेकिन जैसे-

जैसे लावा नजदीक आने लगता है, यह खराब होने लगती है। इस पर रेशी और जुलुक तक की दूरियाँ लिखी आ रही थीं। गौरतलब है कि ये दोनों स्थान सिक्किम में हैं। जुलुक से आगे तो यह सड़क 4000 मीटर की ऊँचाई से भी गुजरती है। इससे नाथू-ला भी जाया जा सकता है।

“सड़क तो खुली ही होगी, चलें क्या जुलुक?” मैंने ब्लैक-आइस से डरते-डरते मजाक-मजाक में दीप्ति से पूछा। अगर इसने हाँ कर दिया, तो मना करना मुश्किल हो जाएगा।

“कितना दूर है यह?”

“सिक्किम में है, 4000 मीटर की ऊँचाई पर।” मैंने आखिरी पाँच शब्द जान-बूझकर जोड़े, ताकि वह एकदम मना कर दे।

और ऐसा ही हुआ - “नहीं जाना।”

लावा में प्रवेश करते ही हमारा स्वागत हुआ - वेलकम टू गोरखालैंड। गौरतलब है कि स्थानीय लोग पश्चिम बंगाल से अलग होकर अपना अलग राज्य गोरखालैंड बनाना चाहते हैं। इसके लिए भूतकाल में बड़े-बड़े प्रदर्शन भी हुए हैं - शांतिपूर्वक भी और हिंसक भी।

आज मैं पहली बार ‘गोरखालैंड’ में आया था। अभी तक मुझे नहीं पता कि यह बाकी बंगाल से कैसे अलग है। लोगों से बातचीत करके इस बारे में जानने का प्रयत्न करेंगे।

“हमारी भाषा, बोली, रहन-सहन कुछ भी बंगाली नहीं है। हमारी भाषा नेपाली से मिलती-जुलती है, बंगाली तो कतई नहीं है। यह बंगाली लिपि में भी नहीं लिखी जाती, बल्कि देवनागरी में लिखी जाती है। और हमें न चाहते हुए भी बंगाली पढ़नी पड़ती है।” एक दुकानदार ने बताया।

“तो क्या स्कूली पढ़ाई बंगाली भाषा में होती है?”

“नहीं, स्कूली पढ़ाई अंग्रेजी में होती है, लेकिन बंगाल का हिस्सा होने के कारण बंगाली का भी प्रेशर रहता है। यह हमारी भाषा नहीं है। हमारी भाषा हिंदी के ज्यादा नजदीक है।”

बाद में गौर किया तो पाया कि पश्चिम बंगाल के पहाड़ी हिस्सों में हर जगह देवनागरी का चलन है। देवनागरी में अखबार तक निकलते हैं। बंगाली अखबार हमें कहीं नहीं दिखा।

लावा नेवरा वैली नेशनल पार्क से लगता हुआ है। जाहिर है कि यह चारों ओर से जंगल से घिरा है। हिमालय के जंगलों में कौन-कौन-से जानवर होते हैं? तो काला भालू और तेंदुए को आप हमेशा जोड़ लीजिए। इसके बाद किसी अन्य जानवर का नाम लीजिए। नेवरा वैली में बाघ भी हैं। पार्क में जाने की अनुमति यहीं लावा से मिलती है। कल हम वहाँ जाएँगे।

यहाँ से कुछ ही आगे रिशप नामक स्थान है। यह 2200 मीटर से भी ऊपर है और यहाँ से कंचनजंघा दिखती है। कंचनजंघा ऐसी चोटी है, जिसे आप कहीं से भी देखो, हमेशा शानदार ही दिखेगी। रिशप के लिए चले तो रास्ते में फोरेस्ट ऑफिस

पड़ा। सोचा कि कल नेवरा वैली जाने के बारे में जानकारी ले लेते हैं।

ऑफिस में गये, तो लगा ही नहीं कि यह सरकारी कार्यालय है। जो भी दो-चार लोग थे, बड़े सम्मान से पेश आए। पहले बैठने को कहा और जब तक कुर्सी पर बैठ नहीं गया, तब तक कोई और बात ही नहीं की उन्होंने। फिर बताया - “आप सिंडिकेट से एक टैक्सी बुक कर लेना। फिर टैक्सी वाले को यहाँ भेज देना, वो परमिट बनवा लेगा।”

“सिंडिकेट क्या होता है?”

“टैक्सी स्टैंड।”

“कितने पैसे लेगा टैक्सीवाला?”

“1300 रुपये लेगा। फिक्स रेट हैं। मोलभाव की भी आवश्यकता नहीं।”

“ये तो काफी ज्यादा हैं। अगर हम नेशनल पार्क में अपनी मोटरसाइकिल से जाएँ तो?”

“आप कैसे भी जाइए, हमें कोई समस्या नहीं। लेकिन रास्ता बहुत खराब है और बहुत चढ़ाई वाला भी। इसलिए चाहूँगा कि आप मोटरसाइकिल से न जाएँ।”

“ठीक है। सुबह कितने बजे आएँ?”

“किसी भी समय आ जाइए। ऑफिस तो नौ बजे खुलेगा, लेकिन अगर आप छह बजे भी आएँगे तो वो सामने मेरा क्वार्टर है, आवाज लगा लेना।”

अब मेरे पास बातें समाप्त हो गईं। ऑफिस में इधर-उधर देखा। कुछ भी ऐसा समझ में नहीं आया, जो बातचीत कर सकूँ। लेकिन इनका व्यवहार इतना अच्छा था कि खूब सारी बातें करने का मन हो रहा था।

“तो इस नेशनल पार्क में टाइगर भी हैं?”

“हाँ जी। आइए, आपको एक चीज दिखाता हूँ।” वह बराबर वाले कमरे में ले गया। और चूने जैसी किसी चीज से बने कुछ नमूने दिखाने लगा।

“ये टाइगर के फुट-प्रिंट हैं।”

“इतने बड़े!”

“हाँ जी, जहाँ भी नरम मिट्टी में कोई फुट-प्रिंट मिलता है, तो हम उसकी छाप ले लेते हैं। बाद में ‘स्टडी’ करने के काम आती है।”

“हमें मिल जाएँगे क्या टाइगर?”

“मिल भी सकते हैं, लेकिन अमूमन मिलते नहीं।”

तो रिशप के लिए चल दिए। पर्याप्त चौड़ा रास्ता है, लेकिन बहुत खराब है। छह-सात किलोमीटर आगे चाय की कुछ दुकानें मिलीं। इनकी बगल में एक छोटा-सा ‘रिज’ था और हमने योजना बनाई थी कि इस रिज पर बैठकर कंचनजंघा और सूर्यास्त दोनों एक-साथ देखेंगे।

हवा बड़ी तेज चल रही थी और तापमान शून्य के आसपास था। ऐसे में चाय और मोमो खाकर और कुछ बिस्कुट आदि लेकर हम इस रिज पर चढ़ने लगे। एक

कच्चा रास्ता रिशप के लिए जा रहा था। रिज पर पहुँच गए, लेकिन अत्यधिक घने जंगल के कारण दूसरी तरफ कुछ भी नहीं दिख रहा था। यह जंगल इतना घना था कि अंधेरा प्रतीत हो रहा था। आप कभी इधर आओ, तो भले ही लावा या रिशप मत रुकना, लेकिन कुछ देर यहाँ इस जंगल में अवश्य बैठना।

और कुछ दूर रिशप की ओर जाने पर थोड़ी-सी खुली जगह मिली और कंचनजंघा दिख गई। हमें कंचनजंघा की पहचान नहीं थी और यहाँ बताने वाला भी कोई नहीं था, लेकिन इसमें अलग ही आकर्षण था। हमारी नजरें अनायास ही एक चोटी पर जाकर टिक जातीं और हमने मान लिया कि वही कंचनजंघा है।

और वास्तव में वही कंचनजंघा थी।

एवरेस्ट की 'खोज' से पहले कंचनजंघा ही दुनिया की सबसे ऊँची चोटी थी।

पश्चिम में सूरज ढलता जा रहा था और उत्तर-पश्चिम में कंचनजंघा का सम्मोहन था। हमारी नजरों के सामने पूरा सिक्किम था। उत्तर में कहीं नीचे दूर गंतोक था और वहाँ भूरी नंगी पहाड़ियों में नाथू-ला। उधर सुदूर कहीं गुरदोंगमर झील थी। हमें दिखा कुछ नहीं, लेकिन पूरा सिक्किम दिख गया, बैठे-बैठे ही।

इसी दौरान एक गाड़ी और आकर रुकी। ड्राइवर बड़ी तेजी से बाहर निकलकर आया, उसके पीछे शायद हनीमून मनाने वाला एक जोड़ा भी उतरा।

“इससे अच्छा व्यू तो होटल से दिख रहा था। तुम यहाँ कहाँ ले आए हमें?”

“नहीं सर, यहाँ जंगल में बैठकर यह सब देखने का अलग ही आनंद है।”

“कैसा आनंद! होटल से इससे अच्छा व्यू दिख रहा था। जल्दी होटल चलो, हमें 'सनसेट' देखना है।”

ड्राइवर हमें यहाँ बैठा देखकर उत्साहित हुआ था। उसे लगा होगा कि हनीमून वाले उसकी प्रशंसा करेंगे, लेकिन प्रशंसा मिली नहीं। चलते-चलते वह हमसे कहता गया - “इन लोगों ने दोपहर से ही परेशान कर रखा है। 'बेस्ट लोकेशन' से इन्हें सनसेट देखना है। और अब तक इन्हें कोई भी जगह पसंद नहीं आई है।”

हम हँस पड़े।

“आपको किसने बताया कि यहाँ से सनसेट अच्छा दिखता है?”

“किसी ने नहीं। चारों ओर जंगल था, तो हम ऊपर ही आते गए और यहाँ पेड़ कम हैं और कंचनजंघा भी दिख रही है, तो यहीं रुक गए। कुछ पीछे भी अगर पेड़ कम होते, तो हम वहीं रुक जाते।”

“आप बेस्ट लोकेशन पर हो इस समय। लेकिन इन लोगों को कुछ भी समझ नहीं आ रहा। इन्हें पता ही नहीं है कि क्या देखना चाहते हैं। अब तो इन्हें होटल पटकूँगा और आराम से घर जाकर सोऊँगा।”

हम वापस होटल पहुँचे तो होटलवाला बड़ा खुश नजर आया। उसके होटल में केवल हम ही यात्री थे। बड़ी जी-जान से उसने भोजन बनाया।

“इधर दिल्ली की तरफ से कोई नहीं आता। सब दार्जिलिंग जाता है।”

“अब आया करेगा। हम दिल्ली जाकर बताएगा कि दार्जिलिंग के पास उससे भी

अच्छा जगह है, तो दिल्ली वाला सब टूरिस्ट लोग अब इधर ही आया करेगा।”

“कैसा लगा आपको लावा?”

“शानदार! मजा आ गया। कल हम नेवरा वैली जाएगा।”

“तब तो और भी अच्छा लगेगा। साथ ही कोलाखाम भी जाना।”

“हाँ।”

16 फरवरी 2018

हमारी इस यात्रा की शुरूआत नामदफा नेशनल पार्क से हुई थी और आज हम नेवरा वैली नेशनल पार्क जाने वाले थे। इनके बीच में भी हमने कई नेशनल पार्कों की यात्राएँ कीं। ये दोनों ही नेशनल पार्क कई मायनों में एक जैसे हैं। सबसे खास बात है कि आप दोनों ही नेशनल पार्कों में कुछ ही दूरी तक सड़क मार्ग से जा सकते हैं, लेकिन आपको बाकी यात्रा पैदल ही करनी पड़ेगी। हिमालयन काले भालू, तेंदुए और बाघ के जंगल में पैदल भ्रमण करना रोमांच की पराकाष्ठा होती है। किसी अन्य नेशनल पार्क में आपको पैदल घूमने की अनुमति आसानी से नहीं मिल सकती। यहाँ तक कि आप काजीरंगा तक में अपनी गाड़ी से नीचे नहीं उतर सकते।

कई बार तो हम बैठकर गणना करते रहते कि अपनी मोटरसाइकिल से जाएँ या गाड़ी बुक कर लें। कल फोरेस्ट वाले ने बताया था कि मोटरसाइकिल से न जाओ, तो अच्छा है। हालाँकि स्थानीय लोग बाहरियों को इस तरह हमेशा मना ही करते हैं, हमें भी एहसास था कि 15-16 किलोमीटर दूर जाने में हालत खराब हो जानी है। अभी कुछ ही दिन पहले हम मेघालय में अत्यधिक खराब रास्ते और अत्यधिक ढलान के कारण बीच रास्ते से वापस लौटे थे, तो आज हमने गाड़ी बुक करना ही उचित समझा।

“1300 रुपये।”

“कम करो ना कुछ।”

“नहीं, फिक्स रेट हैं।”

सिंडिकेट वालों ने ठीक वही रेट बताए, जो कल फोरेस्ट वाले ने बताए थे। एडवांस कुछ नहीं देना पड़ा और हमें हाथोंहाथ एक गाड़ी मिल गई।

सबसे पहले पहुँचे फोरेस्ट ऑफिस। वहाँ के अधिकारी मानों हमारी ही प्रतीक्षा कर रहे थे। हम दोनों की एंट्री फीस और गाड़ी की पार्किंग फीस - बेहद मामूली।

लावा से निकलते ही हम नेशनल पार्क में प्रवेश कर जाते हैं और खराब रास्ता आरंभ हो जाता है। पथरीला रास्ता है और चढ़ाई भी बहुत ज्यादा है। फिर साल में ज्यादातर समय बारिश होते रहने के कारण यह सदाबहार जंगल बन गया है और पत्थरों पर कार्ब के कारण खूब फिसलन रहती है। कई मोड़ों पर तो हमें नीचे उतरना पड़ा और खाली गाड़ी को भी आगे बढ़ने में बड़ी दिक्कत हुई।

“आप रुचेला पीक भी जाएँगे क्या?”

“हाँ, जाएँगे।”

“ठीक है, वैसे तो हम लावा से रुचेला के 800 रुपये लेते हैं, लेकिन आप नेवरा वैली भी जा रहे हैं, तो आपसे 300 रुपये ही लेंगे। यानी आपको कुल मिलाकर 1600 रुपये देने होंगे।”

पैसे देने के नाम पर मुझे मरोड़े बनते हैं - “कितना दूर है रुचेला इस रास्ते से?”

“दो किलोमीटर।”

“तो वापसी में हमें वहीं छोड़ देना। हम पैदल ही लावा पहुँच जाएँगे।”

“देख लो, आपकी मर्जी है। लेकिन रुचेला से कंचनजंघा शानदार दिखती है।”

“इसका मतलब वहाँ से सूर्योदय या सूर्यास्त देखना ठीक रहता होगा।”

“हाँ जी।”

“यानी हम गलत समय पर जा रहे हैं। सूर्योदय चार घंटे पहले हो चुका है और सूर्यास्त से चार घंटे पहले हम लौट आएँगे।”

“हाँ, यह बात तो सही है।”

“तो हम रुचेला नहीं जाएँगे।”

घना जंगल तो था ही। कोई यात्री, कोई गाड़ी भी नजर नहीं आ रही थी। ऐसे में एक आदमी सामने से आता दिखाई पड़ा। ड्राइवर ने गाड़ी रोकी, थोड़ी-सी अपनी भाषा में बात की और वो आदमी गाड़ी में बैठ गया।

“कौन है यह?” मैंने धीरे से ड्राइवर से पूछा। मुझे पूरा भरोसा था कि हिमालय का यह इलाका बहुत अच्छा है और यहाँ के निवासी भी बहुत अच्छे हैं, लेकिन पापी मन ने पूछ ही लिया।

“फोरेस्ट रेंजर है। आज उधर कोई यात्री नहीं गया, तो यह नीचे अपने घर जा रहा था। अब यही आपको जंगल घुमाएगा।”

कुछ आगे चलने पर दो आदमी और मिले। मिले क्या, फिल्मों की तरह जंगल में से अचानक निकले और गाड़ी के सामने आ गए। उन्हें भी बैठा लिया।

“ये कौन हैं?”

“ये भी फोरेस्ट वाले ही हैं। ये जंगल में ट्रैप कैमरा लगाकर आए हैं।”

“ट्रैप कैमरा? हमें भी दिखाना दादा, एकाध कैमरा।”

कुछ आगे चलकर गाड़ी रुक गई। मुझे लगा कोई इस बार भी चढ़ेगा गाड़ी में, लेकिन फोरेस्ट वाले ने इशारा करके बताया - “वो रहा ट्रैप कैमरा।”

“कहाँ?”

“वो, वहाँ।”

“नहीं दिखा।”

“वो देख, वो।” इस बार दीप्ति ने बताया और दिख गया। सोच लिया कि वापसी में इस कैमरे के सामने खड़ा होऊँगा कुछ देर और तरह-तरह की शक्लें बनाकर अपने फोटो खिंचने दूंगा।

और आखिरकार बाँस की बनी एक फोरेस्ट हट के सामने गाड़ी रुक गई। हमारी गाड़ी की यात्रा यहीं तक थी। अब पैदल जाना पड़ेगा। थोड़ी लिखा-पढ़ी हुई और वही रेंजर हमें लेकर चल दिया।

“दादा, आप लोग तो इस पूरे जंगल में पेट्रोलिंग करते होंगे?”

“हाँ जी। हम ही रास्ता बनाते हैं, हम ही कैमरा लगाते हैं और हम ही पेट्रोलिंग करते हैं।”

“कैमरा? अच्छा, ये बताओ कि कैमरे से फोटो कौन निकालता है? कोई बड़ा अफसर होता होगा।”

“नहीं, हम ही लोग निकालते हैं। मेरे पास ‘शेर’ की कुछ फोटो हैं, जो मैंने अपने मोबाइल में सेव कर रखी हैं।”

“दिखाओ, दिखाओ।”

रात के समय ट्रैप कैमरे से फ्लैश मारकर फोटो लिए गए थे और हट्टा-कट्टा बाघ सामने था।

“ओ तेरी की! बाघ तो आप लोगों को भी मिल जाता होगा पेट्रोलिंग करते हुए।”

“अक्सर नहीं मिलता। वह आदमी से बचकर रहता है।”

“फिर भी... आप लोगों को पता तो चल ही जाता होगा कि आसपास बाघ है।”

“हाँ जी, कई बार पता चल जाता है।”

“आपकी दिलचस्पी है क्या वाइल्डलाइफ में?”

“हाँ जी, दिलचस्पी है। मैं तो एक कैमरा भी अपने साथ रखता हूँ। वाइल्डलाइफ के फोटो खींचता रहता हूँ।”

“अरे वाह, नौकरी भी और दिलचस्पी का काम भी। अच्छा, ये बताओ कि इस फोटो में यह नर बाघ है या मादा?”

“एक मिनट, देखना पड़ेगा।”

उसने फोटो को जूम कर-करके पता नहीं क्या देखा और एक सौ बीस सेकंड बाद घोषणा की - “पता नहीं चल रहा।”

“धारियों से पता नहीं चलता क्या?”

“अभी मुझे पहचान नहीं है इतनी।”

“फुट-प्रिंट से तो पता चल ही जाता है।”

“हाँ जी, फुट-प्रिंट से पता चल जाता है, लेकिन मुझे अभी तक पता करना नहीं आया।”

“इस नेशनल पार्क में लाल पांडा भी है ना?”

“लाल पांडा तो बहुत है।”

“दिख जाएगा हमें?”

“कह नहीं सकता। कोशिश करूँगा दिखाने की।”

“दिखाना दादा, मजा आ जाएगा।”

मुझे हिमालयी जंगलों में ट्रेकिंग करते हुए बहुत डर लगता है, लेकिन आज बाघों से भरे जंगल में आनंद आ रहा था। आज एक बात पहली बार समझ आई कि हिमालयी जंगलों का अगर आनंद लेना है, तो कोई स्थानीय आदमी साथ होना जरूरी है। अन्यथा सारा आनंद डर में बदल जाता है और अपनी ही साँसों की आवाज ऐसी लगती है, जैसे कोई नरभक्षी ही साँस ले रहा हो।

2400 मीटर की ऊँचाई पर भी बाँसों के घने झुरमुट थे। लेकिन वन विभाग ने पैदल पगडंडी बेहद शानदार बना रखी थी।

“यह नेशनल पार्क भूटान से लगा हुआ है और यहाँ से चार दिन में भूटान पहुँचा जा सकता है।”

“आप लोग जाते हो क्या?”

“हाँ जी, लेकिन अपना सारा राशन-पानी और टेंट आदि साथ ले जाना होता है।”

तकरीबन डेढ़ किलोमीटर दूर एक ‘व्यू-पॉइंट’ पर रुक गए।

“हमें यहीं से वापस जाना है। साफ मौसम होता तो सामने कंचनजंघा दिखती।”

इस समय चारों ओर बादल थे, लेकिन उनके बरसने की उम्मीद नहीं थी। फिर भी सामने पश्चिम दिशा में कोलाखाम और लावा दिख रहे थे। गहरी घाटी दिख रही थी और उधर सिक्किम के पहाड़ भी। यहाँ कुछ भी शेड आदि नहीं बना था, खुले आसमान के नीचे ही बैठना था। तीन तरफ गहरी खाइयाँ थीं और चौथी तरफ जंगल का वो हिस्सा था, जहाँ से अभी हम आए थे। कोई जंगली जानवर अगर आएगा भी, तो केवल हमारे आने के रास्ते से ही आ सकता है।

तभी अचानक... सुनसान जंगल में कुछ ही दूर सरसराहट हुई। सूखी पत्तियों के कुचलने की आवाज आई। हमारे कान खड़े हो गए।

“क्या है? क्या है?” फुसफुसाहट शुरू हो गई।

गाइड धीरे से उचककर उधर ही देखने लगा। कुछ नहीं दिखा। फिर से आवाज आई। कहीं तेंदुआ तो नहीं? या भालू तो नहीं? या बाघ ही तो नहीं? आवाज बमुश्किल पचास मीटर दूर ही थी।

गाइड बिना हिले-डुले उधर ही देखता रहा। और इधर मैं और दीप्ति खाई में यह देखने लगे कि कहाँ से कूदना ठीक रहेगा। हालाँकि तीन दिशाओं में एकदम खड़ा ढाल था, तो कहीं भी कूदने पर हड्डियाँ टूटनी ही थीं, लेकिन किस दिशा में कूदने पर सबसे कम हड्डियाँ टूटेंगी, हम यही गणना करने लगे।

“इधर तो नहीं आ रहा?” मैंने फुसफुसाते हुए पूछा।

“नहीं, इधर नहीं आ रहा। दूर जा रहा है।”

“लेकिन है क्या? कुछ दिख रहा है या नहीं?”

“पता नहीं। दिख भी नहीं रहा।”

मैंने जिम कार्बेट की कई किताबें पढ़ रखी हैं, लेकिन पढ़ने और आमना-सामना करने में फर्क तो होता ही है। आज हमारा पता नहीं किस जानवर से आमना-सामना होने वाला था। आवाज उसी दिशा से आ रही थी, जिधर से हम अभी आए थे। इसलिए सिर पर पैर रखकर भाग भी नहीं सकते थे। दीप्ति लाल कपड़े पहने थी, उसे बैठे ही रहने दिया। बाकी हम दोनों बिना पलकें झपकाए उधर देखने में तल्लीन थे।

तभी गाइड ने धीरे से कहा - “घुरल है।”

बस, मेरा डर समाप्त हो गया। हालाँकि गाइड के लाख इशारे करने पर भी मुझे घुरल नहीं दिखा, लेकिन अब डर भी नहीं लगा।

“ये बताओ दादा, किसी जानवर से आमना-सामना होने पर कैसे बचना है, इसकी आपको ट्रेनिंग मिली है क्या?”

“नहीं, कोई ट्रेनिंग नहीं मिली।”

यह सुनकर बड़ी हैरानी हुई। हालाँकि उसके पास आवाज करने वाली एक बंदूक जरूर थी, लेकिन बाकी कोई ट्रेनिंग नहीं मिली। तेंदुआ तो घात लगाकर आक्रमण करता है, भालू भी अचानक ही हमला करता है। तो ऐसे में उस बंदूक से क्या कर लेंगे! तेंदुए और बाघ से सामना होने पर हमें अलग व्यवहार करना चाहिए और भालू से सामना होने पर अलग। यही सब ट्रेनिंग दी जानी चाहिए।

हालाँकि अब आराम से बैठकर मैं यह सब लिख जरूर रहा हूँ, लेकिन उस समय मेरे तोते उड़े हुए थे।

मैंने अभी बताया था कि अक्सर नेशनल पार्कों में, खासकर ऐसे नेशनल पार्कों में जहाँ बाघ भी हों, किसी को पैदल चलने की अनुमति नहीं होती। या तो हाथी पर बैठकर जाना होता है या सफारी में। लेकिन 1000 मीटर से 3000 मीटर के बीच स्थित इस नेशनल पार्क में सफारी का विकल्प नगण्य है। आपको यहाँ केवल पैदल ही घूमना पड़ेगा; यह जानते हुए कि आपके इर्द-गिर्द बाघ, तेंदुए हैं।

और यही बात इस नेशनल पार्क को खास बनाती है। हम यहाँ दोबारा आएँगे और या तो ऊपर ही ऊपर भूटान तक जाएँगे या नीचे उतरकर सामसिंग तक। जंगल का असली आनंद पैदल घूमने में है, सफारी में नहीं।

लौटे तो फोरेस्ट हट में चाय बन चुकी थी। कुकर की सीटियाँ भी सुनाई पड़ रही थीं। हमें भोजन के लिए भी कहा गया, लेकिन हम यहाँ से बिना भोजन किए ही आ गए। यहाँ के सभी कर्मचारी लावा और आसपास के ही रहने वाले हैं, लेकिन इनका कम से कम पंद्रह दिनों बाद अपने घर जाना होता है।

नौकरी वाकई नौकरी होती है। हमारे लिए जंगल घूमना ‘लगजरी’ है और उनके लिए मजबूरी। हम उन्हें देखकर खुश हो जाते हैं कि ऐसी शानदार जगह पर नौकरी कर रहे हैं, जबकि वे भी उतने ही उदास हैं जितना कोई अन्य होता है।

बाघ, तेंदुए देखकर डर तो उन्हें भी लगता होगा। कुछ ही दूर से आती सरसराहट सुनकर रोएँ तो उनके भी खड़े होते होंगे। कैमरा लगाने और पेट्रोलिंग पर जाते हुए जंगल के सन्नाटे में धड़कनें तो उनकी भी बढ़ जाती होंगी।

अब तक मौसम बहुत खराब हो चुका था, तो रुचेला पीक जाने का कोई औचित्य नहीं था। सीधे लावा आ गए और आज भी यहीं रुकने का निर्णय ले लिया।

बाजार में घूमते-घूमते समोसों की एक दुकान मिल गई। इसका मालिक छपरा का रहने वाला था। उसके साथ एक गूंगा सहयोगी था। हमें चाय-समोसे परोसकर मालिक कहीं चला गया। तो गूंगे ने बातचीत शुरू कर दी। अब आप यह मत पूछ लेना कि गूंगे ने बातचीत कैसे की और हमें कैसे समझ में आई। लेकिन उसने बताया कि कल-परसों मौसम बहुत खराब हो गया था और ओले भी गिरे थे। जब ओले गिरे तो गंजा गूंगा बाहर था और कई ओले उसके सिर पर आकर लगे। फिर वो कहीं दुबककर बैठ गया और इस तरह उसका बचाव हुआ। फिर गूंगे ने ही यह भी बताया कि दुकान के मालिक की लड़की खेलते-खेलते छत से गिर गई और उसका हाथ टूट गया। अभी वह अस्पताल में थी।

इसने हमें यह सब बंगाली में बताया, गोरखाली में बताया या हिंदी में बताया, हमें नहीं पता; लेकिन हम सब समझ गए। अगर वह गूंगा न होता और जीभ से संवाद करता, तो हम उस पर कोई ध्यान नहीं देने वाले थे। लेकिन हाथों से, उंगलियों से और चेहरे के हावभाव से उसने अपनी बात अच्छी तरह बता दी। अभी मैं सोचता हूँ कि अगर हम कभी भी जीभ की भाषा का इस्तेमाल न करते और केवल संकेतों से ही बात करते, तो कितना अच्छा होता! कोई भाषाओं का चक्कर नहीं पड़ता और सभी लोग सभी की बात समझ लेते।

लेकिन क्या तब भी हम उन संकेतों में भाषाएँ और भेदभाव नहीं ढूँढ लेते? हाथ उठाने के तरीके में हिंदी और बंगाली नहीं ढूँढ लेते? आज तो हम सभी एक-सा हँसते हैं, लेकिन तब एक-सा नहीं हँस पाते। कोई अंग्रेजी में हँसता, कोई हिंदी में हँसता।

17 फरवरी 2018

आज शाम तक हमें दार्जिलिंग पहुँचना था। यहाँ से दूरी 80 किलोमीटर है। सड़क ठीक होगी तो कुछ ही देर में पहुँच जाएँगे और अगर खराब हुई, तब भी शाम तक तो पहुँच ही जाएँगे। लेकिन लोलेगाँव देखते हुए चलेंगे।

लोलेगाँव में क्या है?

यह जरूरी नहीं कि कहीं 'कुछ' हो, तभी जाना चाहिए। यह स्थान लगभग 1700 मीटर की ऊँचाई पर स्थित है और फरवरी के महीने में इतनी ऊँचाई वाले स्थान दर्शनीय होते हैं। फिर इसके पश्चिम में ढलान है, यानी कोई ऊँची पहाड़ी या चोटी नहीं है। तो शायद कंचनजंघा भी दिखती होगी। और अब तक आप जान ही चुके हैं कि कंचनजंघा जहाँ से भी दिखती हो, वो स्थान अपने-आप ही दर्शनीय हो जाता है। फिर वहाँ 'कुछ' हो या न हो, आपको चले जाना चाहिए।

हमें लावा से लोलेगाँव का सीधा और छोटा रास्ता समझा दिया गया। और यह भी बता दिया गया कि मोटरसाइकिल लायक अच्छा रास्ता है।

चलने से पहले बता दूँ कि यह पूरा रास्ता जंगल का है और झाऊ के पेड़ों की

भरमार है। मुझे झाऊ की पहचान नहीं थी। यह मुझे कभी चीड़ जैसा लगता, तो कभी देवदार जैसा लगता। कल फोरेस्ट वालों ने बताया कि यह झाऊ है।

और अब चीड़ भी झाऊ जैसा लगने लगा है और देवदार भी।

रास्ता ढलानदार था और सड़क पूरी तरह खराब थी। फिर भी रोमांच में कोई कमी नहीं आ रही थी। वैसे तो चलता-फिरता रास्ता है, फिर भी सन्नाटा पसरा था।

जंगल में तो मोटरसाइकिल भी हमें दुआएँ देती है। लगता है कि इसका मन भी जंगल में ही रमता है।

लावा से लोलेगाँव 25 किलोमीटर है और हमें डेढ़ घंटे लग गए। हमारा स्वागत एक कुत्ते ने किया, जो बंधा हुआ था और बेतहाशा भौंके जा रहा था। हमने इसी के पास मोटरसाइकिल रोक ली और जिस दुकान के सामने यह बंधा था, उसी में चाय पीने चले गए। हमें चाय का ऑर्डर देते देख यह चुप हो गया।

चारों ओर बादल थे, इसलिए झंडीदरा आदि स्थानों तक जाने का कोई औचित्य नहीं था। कंचनजंघा नहीं दिखने वाली थी।

और जैसे कि दूसरे अल्प-प्रसिद्ध स्थान होते हैं, वैसे ही लोलेगाँव भी था। कुछ होटल थे, एक पार्क था और एकदम खाली सड़क थी। जितनी देर चाय पीने में लगी, हम केवल उतनी ही देर रुके। हमें केवल लोलेगाँव देखना-भर था। लावा से दार्जिलिंग जा रहे हैं, समय भी काफी है तो थोड़ा चक्कर लगाकर देख लिया। न रुकने की मंशा थी और न ही कुछ करने की।

लोलेगाँव से कलिम्पोंग की सड़क ठीक बनी है। पहले ढलान है और एक नदी पार करके तेज चढ़ाई। हम एक-दो मोड़ों पर रास्ता भी भटके, लेकिन डेढ़ घंटे में कलिम्पोंग पहुँच गए।

कलिम्पोंग का बहुत नाम पढ़ा था, खासकर राहुल सांकृत्यायन के वृत्तांतों में। यह एक बड़ी व्यापारिक मंडी हुआ करती थी और सिक्किम व तिब्बत तक के व्यापारी यहाँ नियमित आया करते थे। आज यह बहुत भीड़-भाड़ वाला शहर है और यहाँ वन-वे सड़कें हैं। हालाँकि अब सिक्किम व तिब्बत जाने वाली मुख्य सड़क भी कलिम्पोंग से नहीं गुजरती।

दीप्ति कलिम्पोंग जैसे ऐतिहासिक बाजार से गुजरे और खरीदारी न करे, ऐसा होना असंभव है। हालाँकि वह भारी-भरकम खरीदारी नहीं करती, लेकिन एक-दो रुपयों का कुछ न कुछ ले जरूर लेती है।

और वन-वे होने के बावजूद भी यहाँ जाम लगा था।

नीचे तीस्ता बाजार तक ढलान ही ढलान था और सड़क अच्छी थी। ढलान काफी तेज था और फिसलने से रोकने के लिए सड़क कुछ विशेष तरह से बनाई गई थी।



कलिम्पोंग बाजार



तीस्ता नदी

तीस्ता बाजार में गंतोक जाने वाली सड़क मिल गई और साथ ही तीस्ता नदी भी।

तीस्ता बाजार से दार्जिलिंग जाने वाली सड़क अगर अच्छी न बनी होती, तो इस पर चढ़ना नामुमकिन होता। इतनी तीव्र चढ़ाई वाली सड़क भारत में मैंने कहीं नहीं देखी। एक-दो जगहों पर तो 'स्पाइरल' भी हैं, ताकि कम दूरी में ज्यादा चढ़ाई चढ़ी जा सके। मोटरसाइकिल पहले गियर में ही चल पा रही थी। ऐसे में पर्याप्त हवा न लगने के कारण इंजन 'ओवरहीट' हो जाता है, तो बार-बार रुक जाना ठीक रहता है। और जैसे ही 'लवर्स मीट व्यू पॉइंट' देखा, तो मोटरसाइकिल अपने आप ही रुक गई।

इस व्यू पॉइंट का नाम भले ही उतना आकर्षक न हो, लेकिन यहाँ से नजारे शानदार दिखते हैं। क्या कहा? 'लवर्स मीट' नाम आकर्षक क्यों नहीं है? पता नहीं, लेकिन मुझे इस नाम ने आकर्षित नहीं किया। अगर मोटरसाइकिल 'ओवरहीट' होने के कगार पर न पहुँचती तो हम यहाँ नहीं रुकने वाले थे।

लेकिन यहाँ से तीस्ता और रंगीत नदियों का संगम दिखता है। संगम से ऊपर तीस्ता बंगाल और सिक्किम की सीमा बनाती चली जाती है और पश्चिम में रंगीत भी इन दोनों राज्यों की सीमा बनाती है। संगम के बाद ही तीस्ता नदी पूरी तरह बंगाल में प्रवेश करती है।

जिस समय भारत आजाद हुआ, उस समय सिक्किम एक अलग देश था और उसे अलग देश ही रहने दिया गया, हालाँकि सामरिक और दूसरे बहुत सारे मामलों में वह भारत पर ही निर्भर था। सिक्किम का अपना राजा था और अलग प्रधानमंत्री भी। फिर राजशाही के खिलाफ असंतोष हुआ या जो भी कुछ हुआ; 14 अप्रैल 1975 को वहाँ जनमत संग्रह हुआ और 97 प्रतिशत मतदाताओं ने भारत में विलय के समर्थन में वोट किया। 16 मई 1975 को यह भारत का एक राज्य बन गया।

हम सिक्किम नहीं जा सके, तो क्या हुआ? हमारे सामने तीस्ता-रंगीत संगम था और उसके परे सिक्किम था।

इसके बाद भी ऐसी ही तेज चढ़ाई बरकरार रहती है। जैसे-जैसे हम ऊपर होते जाते हैं, वातावरण में ठंडक भी बढ़ती जाती है और बादल भी घने होते जाते हैं। चाय की खेती भी और देवदार के जंगल भी।

दार्जिलिंग में प्रवेश करते ही ट्रैफिक पुलिस ने रोक लिए। हमारे पास दिल्ली में अक्टूबर का बना हुआ 'पॉलूशन सर्टिफिकेट' था, जो दिल्ली के लिहाज से तीन महीने बाद यानी जनवरी में एक्सपायर हो चुका था। जबकि पश्चिम बंगाल में इसकी अवधि छह महीने होती है। तो हमें लगा कि यहाँ यह अप्रैल तक मान्य होगा, लेकिन पुलिस वाले नहीं माने।

“इतने हजार का चालान कटेगा।”

“नहीं कटेगा। पश्चिम बंगाल में छह महीने तक चलता है और अभी इसे चार महीने ही हुए हैं। अगर हम यहाँ पश्चिम बंगाल में सर्टिफिकेट बनवाकर ले जाते हैं, तो भले ही उस पर 'एक्सपायरी' छह महीने लिखी हो, दिल्ली वाले तीन महीने होते ही चालान काटने लगेंगे।”

“देखो, मैं चालान काट रहा हूँ। अगर आपको लगता है कि मैं गलत कर रहा हूँ, तो कोर्ट चले जाना।”

“हाँ ठीक है, काटो चालान। और ये लो नकद।”

“नहीं, हम नकद नहीं लेंगे। आपको दार्जिलिंग कोर्ट में जमा कराने होंगे।”

यह सुनते ही झटका लगा। आज शनिवार की शाम हो चुकी थी। कल रविवार है और चालान दार्जिलिंग कोर्ट में परसों ही जमा हो जाएगा। हमें कल ही दार्जिलिंग से निकल जाना है। अब बेवजह एक दिन अतिरिक्त रुकना पड़ेगा। और परसों भी दोपहर होते-होते ही काम हो जाएगा, इसलिए दो दिन भी रुकना पड़ सकता है। सारा कार्यक्रम बिगड़ जाएगा।

अब मेरे सुर बदल गए - “देखिए सर, हम टूरिस्ट लोग हैं। हमें नहीं पता था। मैं आज ही सर्टिफिकेट बनवा लूँगा। यह कोर्ट-वोर्ट में चालान का झंझट बड़ा भारी पड़ जाएगा।”

उसने तिरछी निगाहों से ऐसे देखा, मानों कह रहा हो - आ गया ना लाइन पर।

“अच्छा, टूरिस्ट हो? हम लोग टूरिस्टों को परेशान नहीं करते। लेकिन आज ही सर्टिफिकेट जरूर बनवा लेना।”

“हाँ जी सर, हाँ जी दादा। थैंक्यू थैंक्यू।”

तो इस तरह दार्जिलिंग में हमारा प्रवेश हुआ। इसे अच्छा शकुन तो कतई नहीं कहा जा सकता।

अचानक हमारे सामने घूम स्टेशन आ गया। आहा! घूम! भारत में सबसे ज्यादा ऊँचाई पर स्थित रेलवे स्टेशन।

दार्जिलिंग की ओर बढ़ रहे थे तो सड़क और रेल की लाइन एक-दूसरे में गुत्थमगुत्था मिलीं। कब लाइन इधर हो जाती और कब उधर, पता ही नहीं चलता। तभी डीजल इंजन की एक ट्रेन दार्जिलिंग से घूम की ओर जाती दिखी। इसके पाँच मिनट बाद ही दूसरी ट्रेन जाती मिली, भाप के इंजन की। मैं हैरान रह गया - एक ही सेक्शन में दो ट्रेनें! रेलवे कभी भी ऐसा नहीं करता, भले ही पीछे वाली ट्रेन को कितना भी देर क्यों न रोकना पड़े। एक ही दिशा में जा रही दो ट्रेनों के बीच में कम से कम एक सिग्नल तो जरूर होता है।

लेकिन पहली बार हमने भाप का इंजन चलता देखा। मजा आ गया देखकर।

और जब स्टेशन के पास एक खराब बिस्तरों वाला महंगा कमरा मिला, तो पक्का हो गया कि दार्जिलिंग हमारे लिए शुभ नहीं है। हम अभी तक भी पॉलूशन सर्टिफिकेट नहीं बनवा पाए थे, क्योंकि रास्ते में आने वाले दोनों केंद्र बंद हो चुके थे।

14. दार्जिलिंग हिमालयन रेलवे

18 फरवरी 2018

हम दार्जिलिंग केवल इसलिए आए थे ताकि रेलवे लाइन के साथ-साथ न्यू जलपाईगुड़ी तक यात्रा कर सकें। वैसे तो मेरी इच्छा न्यू जलपाईगुड़ी से दार्जिलिंग तक इस ट्रेन में ही यात्रा करने की थी, लेकिन बहुत सारी योजनाओं को बनाने और बिगाड़ने के बाद तय किया कि दार्जिलिंग से न्यू जलपाईगुड़ी तक मोटरसाइकिल से ही यात्रा करेंगे, ट्रेन के साथ-साथ।

दार्जिलिंग से न्यू जलपाईगुड़ी की एकमात्र ट्रेन सुबह आठ बजे रवाना होती है। हम छह बजे ही उठ गए थे। यह देखकर अच्छा लगा कि होटल वालों ने हमारी मोटरसाइकिल बाहर सड़क किनारे से हटाकर होटल के अंदर खड़ी कर दी थी। वैसे तो उन्होंने कल वादा किया था कि रात दस-ग्यारह बजे जब रेस्टोरेंट बंद होने वाला होगा, तो वे मोटरसाइकिल अंदर खड़ी करने के लिए हमें जगा देंगे। पता नहीं उन्होंने आवाज लगाई या नहीं, लेकिन मोटरसाइकिल हमें भीतर ही खड़ी मिली।

हमें शहर अच्छे नहीं लगते, इसलिए दार्जिलिंग भी नहीं घूमना था। लेकिन जब छह बजे उठ गए तो क्या करते? बाजार में चले गए। कल भी इधर आए थे और मीट की बड़ी-बड़ी दुकानें देखकर नाक सिकोड़ते हुए लौट गए थे। अब सुबह-सुबह का समय था और सभी दुकानें बंद थीं। टैक्सी स्टैंड तक पहुँच गए। कलिम्पोंग, गंतोक और सिलीगुड़ी जाने वाली शेयर्ड टैक्सियाँ तैयार हो चुकी थीं। यहीं चाय की एक दुकान खुली थी और अच्छा इंटरनेट भी चल रहा था। चाय भी पी और इंटरनेट भी चलाया।

लेकिन ट्रेन के साथ-साथ चलने से पहले पॉलशन सर्टिफिकेट बनवाना था। दार्जिलिंग स्टेशन के आगे से जब घूम की तरफ चले, तो दिमाग में यही बात थी। अभी आठ नहीं बजे थे और न्यू जलपाईगुड़ी जाने वाली ट्रेन डीजल इंजन के साथ तैयार खड़ी थी।

“आज रविवार है। सर्टिफिकेट बनाने वाला आज नहीं आएगा।”

सुनते ही लगा जैसे हम दार्जिलिंग में फँस गए हों। शहर से बाहर जरूर पुलिसवाले खड़े होंगे और आज तो निश्चित ही चालान कटेगा।

दार्जिलिंग वाकई हमारे लिए शुभ नहीं है। अब के बाद कभी भी यहाँ नहीं आएँगे। हे भगवान! आज बचा लेना, प्लीज!

बतासिया लूप को अच्छे पिकनिक स्पॉट के तौर पर विकसित किया गया है। यहीं बैठे पुलिसवालों से पूछकर मोटरसाइकिल सड़क किनारे खड़ी की और टिकट लेकर बतासिया लूप पर ट्रेन के आने की प्रतीक्षा करने लगे। बड़ी भीड़ थी - यात्रियों की भी और दुकानदारों की भी। रेल की पटरी पर ही दुकानें लगी हुई थीं। फिर जैसे ही दार्जिलिंग की तरफ से सीटी की आवाज सुनाई पड़ी, तो सभी दुकान वालों में हलचल होने लगी और ट्रेन के आते-आते पटरी एकदम खाली हो गई।

ट्रेन आई और बिना रुके चली गई। उसके जाते ही दुकानें फिर से सज गईं। कुछ

लोगों ने पहियों वाली छोटी-छोटी गाड़ियाँ बना रखी थीं, जो रेल की पटरियों पर चलती हैं और जिनसे वे सामान लाते और ले जाते हैं। इसी तरह की गाड़ी 'बर्फी' फिल्म में भी खूब दिखाई गई है।

बतासिया लूप से कंचनजंघा भी दिखती है, लेकिन धुंध के कारण नहीं दिखी। यहाँ ट्रेन के एक-दो फोटो और लेना चाहता था, इसलिए कुछ देर और रुकना पड़ा। थोड़ी देर बाद जब कर्सियांग से दार्जिलिंग जाने वाली ट्रेन आई, तो वे फोटो भी ले लिए।

...

दार्जिलिंग हिमालयन रेलवे कंपनी की स्थापना सन् 1879 में हुई थी और एक साल के भीतर ही सिलीगुड़ी से कर्सियांग तक की लाइन खुल चुकी थी। फिर कर्सियांग से सोनादा 1 फरवरी 1881 को, सोनादा से घूम 4 अप्रैल 1881 को और घूम से दार्जिलिंग 4 जुलाई 1881 को खुल गई। 1885 में दार्जिलिंग से दार्जिलिंग बाजार तक भी रेलवे लाइन बिछाई गई थी, जो वर्तमान में पूरी तरह समाप्त हो चुकी है।

अब जब इतना बता दिया तो एक रोचक बात और बता देता हूँ। 20 जनवरी 1913 को एक और कंपनी का गठन हुआ - दार्जिलिंग हिमालयन रेलवे एक्सटेंशंस। इसने सिलीगुड़ी से नक्सलबाड़ी और इस्लामपुर होते हुए 1914 में किशनगंज तक 2 फीट गेज की नैरोगेज लाइन बिछा दी थी। 1947 के बाद जब असम को शेष भारत से रेलमार्ग से जोड़ने की आवश्यकता हुई, तो इस नैरोगेज की लाइन को थोड़े से एलाइनमेंट में बदलाव के साथ मीटरगेज बनाया गया और वर्तमान में यह लाइन ब्रॉडगेज है।

इसके अलावा इसी कंपनी ने एक और रेलवे लाइन बिछाई - सिलीगुड़ी से सेवक होते हुए कलिम्पोंग रोड़ तक नैरोगेज की लाइन। सेवक से यह लाइन तीस्ता नदी के साथ-साथ ऊपर चढ़ती थी और रियांग होते हुए कलिम्पोंग रोड़ नामक स्टेशन पर समाप्त होती थी। बाद में कलिम्पोंग रोड़ स्टेशन का नाम बदलकर गीली खोला कर दिया गया। तीस्ता बाजार से गीली खोला की दूरी चार किलोमीटर है। वर्तमान में तीस्ता बाजार से कलिम्पोंग के लिए सड़क जाती है, लेकिन उस समय गीली खोला से रोप-वे से कलिम्पोंग सामान पहुँचाया और लाया जाता था। दिन में एक ट्रेन सिलीगुड़ी से गीली खोला तक आती-जाती थी। फिर 1947 में जब पाकिस्तान बना और शेष भारत से असम जाने वाली मीटरगेज की मुख्य लाइन उधर चली गई, तो असम को शीघ्र से शीघ्र जोड़ने के लिए सिलीगुड़ी से सेवक, आलिपुरदूआर होते हुए मीटरगेज की नई रेलवे लाइन बिछाई गई। इस समय सेवक तक नैरोगेज और मीटरगेज की लाइनें एक साथ थीं। फिर 1950 में तीस्ता नदी में बाढ़ आई और सेवक से गीलीखोला की लाइन नेस्तनाबूद हो गई, जो बाद में कभी भी चालू नहीं हो सकी। वर्तमान में पुराने स्टेशनों और जंगलों में दबी पड़ी पुरानी पटरियों के अवशेष ढूँढने पर मिल भी सकते हैं।

फिलहाल सेवक से तीस्ता के साथ-साथ सिक्किम के रंगपो और गंतोक तक रेलवे लाइन बिछाने की योजना भी सुनने में आ रही है।

और आखिरकार घूम से ट्रेन निकलने के एक घंटे बाद यानी साढ़े नौ बजे हम बिना सर्टिफिकेट बनवाए ही सिलीगुड़ी की ओर चल दिए। लेकिन अब बहुत चौकस रहना पड़ रहा था। ट्रेन और रेलवे लाइन से ज्यादा ध्यान पुलिसवालों पर देना पड़ रहा था।

यह पूरी लाइन सड़क के किनारे-किनारे ही बनी है। जब 1880 में यहाँ रेलवे लाइन बननी शुरू हुई थी, तो यह कच्चा रास्ता था। इसी रास्ते पर रेलवे लाइन बिछाने के सारे अधिकार अंग्रेजी सरकार ने इस कंपनी को फ्री में दे दिए थे। कंपनी ने जमकर अपने इस अधिकार का प्रयोग किया और रेलवे लाइन व सड़क एक-दूसरे में लिपटे हुए दिखाई पड़ते हैं। बहुत सारी क्रॉसिंग हैं और सिलीगुड़ी शहर को छोड़कर कहीं भी फाटक नहीं है।

सोनादा में एक पेट्रोल पंप के पास लिखा दिखा - “यहाँ गाडीको धुवाँ जाँच गरिन्छ।”

गर्दन घुमाई और प्रदूषण जाँच केंद्र खुला दिख गया। कसम से, इतनी खुशी मिली कि बता नहीं सकता। अपना सिर उठता हुआ-सा महसूस हुआ। अब बेफिक्र चलेंगे।

टुंग में हम स्टेशन बिल्लिंग ढूँढते रहे और यह हमारे पीछे थी। यानी यह नेशनल हाइवे ही प्लेटफार्म है। स्टेशन से टिकट लो, फिर सड़क पर आओ और ट्रेन में चढ़ जाओ।

टुंग से अगला स्टेशन कर्सियांग है। यह स्टेशन कुछ अजीब ही तरह से बना है। रेलवे लाइन से अलग हटकर स्टेशन बना है। लाइन का एक टुकड़ा मेनलाइन और स्टेशन को जोड़ता है। ट्रेन दार्जिलिंग की तरफ से आई और स्टेशन के सामने से होती हुई आगे निकल गई। फिर रुक गई। पॉइंटमैन के द्वारा कर्सियांग स्टेशन का रूट बनाने के बाद यह बैक आने लगी और पीछे चलती हुई स्टेशन में दाखिल हुई। यहाँ काफी व्यस्त चौराहा है और दो सड़कें तो वन-वे हैं। जब तक ट्रेन आगे जाकर वापस आई, तब तक ट्रैफिक पुलिस ने यातायात रोककर रखा।

कर्सियांग के बाद सिलीगुड़ी की छोटी और प्रचलित सड़क तेजी से पहाड़ उतरती चली जाती है और रेल की लाइन बड़ा लंबा चक्कर लगाती हुई धीरे-धीरे नीचे उतरती है। हम रेल की लाइन के साथ-साथ ही रहे।

कुछ ही आगे गिद्दा पहाड़ व्यू पॉइंट है। यहाँ पहाड़ एकदम खड़ा है और उसके नीचे सड़क व दोनों के बीच में मासूम-सी रेलवे लाइन। दो डिब्बों की ट्रेन धीरे-धीरे नजदीक आती गई और सीटी पर सीटी बजाती हुई आगे निकल गई। यहाँ पर रेलवे की एक साइडिंग और नेताजी सुभाष चंद्र बोस संग्रहालय भी है।



बस, ऐसे ही यात्रा चलती रही। हम रुक जाते, तो ट्रेन आगे निकल जाती और हम चल देते तो ट्रेन पीछे रह जाती।

इस मार्ग में छह 'जेड रिवर्स' भी हैं। इन्हें 'जिग-जैग रिवर्स' भी कह देते हैं। आपको पता ही होगा कि पहाड़ी मार्गों पर अगर ज्यादा 'ग्रेडियेंट' बना देंगे तो चढ़ाई पर एक सीमा के बाद इंजन ट्रेन को नहीं खींच पाएगा। इसलिए एक सीमा से ज्यादा 'ग्रेडियेंट' नहीं बनाया जा सकता।

लेकिन अगर ज्यादा चढ़ाई हो और पहाड़ खोदने की संभावना न हो, तो क्या करेंगे?

तो या तो लूप बनाएँगे, जैसा लूप बतासिया में है। वहाँ रेल की लाइन एक छोटी-सी जगह में गोल चक्कर लगाती है और ऊँची हो जाती है। और या फिर 'जिग-जैग' वाला तरीका अपनाएँगे। इसमें ट्रेन आगे जाती है, फिर रुककर दूसरी पटरी पर पीछे हटती है और फिर तीसरी पटरी पर आगे बढ़ने लगती है। इस तरह थोड़ी दूरी में ही रेलवे लाइन ऊपर आ जाती है। रेलवे में तीव्र चढ़ाइयों के लिए जिग-जैग मार्ग बनाना ही ज्यादा सुगम है।

इस तरह का रेलमार्ग भारत में और कहीं भी नहीं हैं, लेकिन पाकिस्तान में हुआ करता था। पेशावर से आगे अफगान सीमा पर स्थित लंडी कोतल तक ब्रॉडगेज की रेलवे लाइन थी, जो खैबर की दुर्गम पहाड़ियों से होकर गुजरती थी। उस लाइन पर कम से कम एक 'जिग-जैग' था। फिलहाल वह रेलवे लाइन बंद हो चुकी है और उसके अवशेष ही बचे होंगे।

और यहाँ दार्जिलिंग हिमालयन रेलवे में छह जिग-जैग हैं। हैरानी की बात यह है कि यहाँ एक भी सुरंग नहीं है।

तो हम रेल के साथ-साथ ही चलते रहे और स्वयं रेलयात्रा करने की कल्पना भी करते रहे। जमकर फोटो खींचे और ट्रेन के अंदर बैठकर बाहर की जो बातें छूट जाया करती हैं, वे कोई भी बात छूटने नहीं दी।

लेकिन जैसे-जैसे नीचे आते गए, गर्मी बढ़ती गई और हम बोर होते गए। ट्रेन इतना धीरे चलती है कि मोटरसाइकिल पहले गीयर में भी उससे आगे निकल जाती थी और फिर बड़ी देर तक ट्रेन की प्रतीक्षा करनी पड़ती थी। और आखिरकार अच्छी तरह बोर होने के बाद हमने ट्रेन का साथ छोड़ दिया और तेजी से आगे निकल गए।

सुकना के बाद तो मैदानी रास्ता है, लेकिन जंगल होने के कारण बेहद खूबसूरत

भी है। अभी पतझड़ की बहार चल रही थी, मानसून में अलग बहार हो जाती होगी।

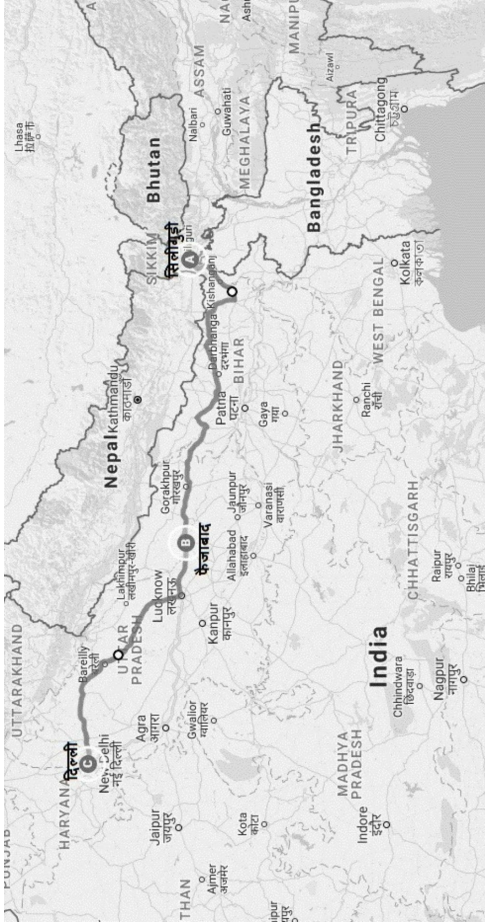


आज हमें सिलीगुड़ी ही रुकना था और अपने कद का होटल ढूँढते-ढूँढते न्यू जलपाईगुड़ी जा पहुँचे। अभी ढाई ही बजे थे और हम अभी भी बहुत दूर जा सकते थे, लेकिन बहुत दूर जाने का काम कल करेंगे और आज केवल आराम करना है और सोना है।

कल हमें अपनी पूर्वोत्तर की इस यात्रा को अलविदा कहकर दिल्ली के लिए निकल लेना है और बहुत लंबी बाइक-यात्रा करनी है।

जब से रेलवे ने दार्जिलिंग हिमालय ट्रेन में केवल फर्स्ट क्लास के डिब्बे लगाए हैं, तब से यह ट्रेन आम लोगों के लिए अछूत बन गई है। फर्स्ट क्लास काफी महंगी श्रेणी होती है और केवल खाते-पीते घर के 'टूरिस्ट' लोग ही इस भार को वहन कर सकते हैं। 87 किलोमीटर की इस यात्रा में 7 घंटे लगते हैं और 1200 रुपये से ज्यादा का टिकट है।

जी हाँ, 1200 रुपये।



15. सिलीगुड़ी से दिल्ली मोटरसाइकिल यात्रा

19 फरवरी 2018

पूर्वोत्तर में इतने दिन घूमने के बाद अब बारी थी दिल्ली लौटने की और इस यात्रा के आखिरी रोमांच की भी। सिलीगुड़ी से दिल्ली लगभग 1500 किलोमीटर है और हमारे पास थे तीन दिन, यानी 500 किलोमीटर प्रतिदिन का औसत। यानी हमें पहले दिन मुजफ्फरपुर रुकना पड़ेगा और दूसरे दिन लखनऊ। गूगल मैप के सैटेलाइट व्यू में मैंने पहले ही देख लिया था कि इस्लामपुर शहर को छोड़कर पूरा रास्ता कम से कम चार लेन है। इसका साफ मतलब था कि हम एक दिन में 500 किलोमीटर तो आसानी से चला ही लेंगे।

लेकिन कुछ समस्याएँ भी थीं। यू.पी. और बिहार के बड़े पर्यटन स्थलों को छोड़कर किसी भी शहर में होटल लेकर ठहरना सुरक्षित और सुविधाजनक नहीं होता। अगर आप तीस की उम्र के हैं और आपकी पत्नी भी आपके साथ है, तब तो बहुत सारी अनावश्यक पूछताछ होनी तय है। हम इन सबसे बचना चाहते थे।

हमारे रास्ते में बिहार में दरभंगा और मुजफ्फरपुर बड़े शहर थे, लेकिन वहाँ शून्य पर्यटन है; इसलिए निश्चित कर लिया कि बिहार में कहीं भी होटल लेकर नहीं रुकना। उससे आगे यू.पी. में गोरखपुर है, जहाँ ठहरा जा सकता है। तो हम आज कम से कम गोरखपुर तक पहुँचने की योजना बना रहे थे।

लेकिन गोरखपुर 700 किलोमीटर दूर है और मैंने कभी भी इतनी दूर तक एक दिन में मोटरसाइकिल नहीं चलाई थी। पता नहीं आज भी चला पाऊँगा या नहीं। इसलिए फेसबुक पर कल ही आज की यात्रा के बारे में लिख दिया था। इसका नतीजा यह हुआ कि बिहार के गोपालगंज से एक मित्र ने अपने घर पर आने का न्यौता दे दिया और यू.पी. के लगभग प्रत्येक शहर से आमंत्रण मिले। हमें अपने फेसबुक मित्रों के घर पर ठहरने में कोई समस्या नहीं आती और डर भी नहीं लगता, इसलिए ऐसे सभी मित्रों को नोट कर लिया, जहाँ आवश्यकता पड़ने पर हम रुक सकते थे।

गोपालगंज 600 किलोमीटर दूर है और अगर हम लेट भी हो जाएँगे, तब भी गोपालगंज में कोई दिक्कत नहीं आएगी। अब हमारी होटल लेकर रुकने की सारी समस्याएँ हल हो गईं।

तभी फैजाबाद से अपर्णा जी ने आग्रह किया - “नीरज, एक दिन फैजाबाद रुको।”

अपर्णा जी से हम डेढ़ साल पहले एवरेस्ट बेसकैम्प जाते समय मिल चुके थे और वे उन गिने-चुने मित्रों में से एक हैं, जिनका कहा टालना लगभग असंभव होता है। अब हमने सोच लिया कि पहले दिन 600 किलोमीटर चलकर गोपालगंज रुकेंगे और दूसरे दिन 250 किलोमीटर चलकर फैजाबाद। अपर्णा जी से बता दिया कि 20 तारीख को हम आपके यहाँ आएँगे।

लेकिन रात जब सोने लगे तो पहली बार यह बात दिमाग में आई - “क्यों न पहले दिन फैजाबाद ही रुका जाए?”

‘कल हम फैजाबाद रुकेंगे’ यह निश्चय करके सुबह तीन बजे का अलार्म लगाकर सो गए।

लेकिन रात दो बजे मच्छरों ने आक्रमण कर दिया और नींद खराब हो गई। हम इतनी लंबी मोटरसाइकिल यात्रा अधूरी नींद से उठकर नहीं करने वाले थे। इसलिए ऑडोमॉस लगाई और पाँच बजे का अलार्म लगाकर फिर से सो गए।

हमने पहले भी कई बार एक दिन में 500 किलोमीटर से ऊपर बाइक चलाई थी, इसलिए इस तरह की लंबी यात्राओं के बारे में काफी अंदाजा था। और यह भी पता था कि अगर हमें 40 किलोमीटर प्रति घंटे का औसत चाहिए, तो 80 की स्पीड से बाइक चलानी पड़ेगी। लेकिन लगातार 80 की स्पीड से बाइक चलाना भी आसान नहीं होता। और अगर हमने 40 का औसत हासिल कर भी लिया, तब भी हम रात बारह बजे तक फैजाबाद नहीं पहुँच पाएँगे।

अगर फैजाबाद पहुँचना है, तो प्रति घंटे 50 का औसत चाहिए। यानी 100 की स्पीड से चलना पड़ेगा। 100 की स्पीड से आप कुछ दूर तो चल सकते हैं, लेकिन

बहुत देर तक नहीं।

बड़ा हिसाब-किताब लगाना पड़ता है साहब, इस तरह की यात्राओं से पहले। और सारा हिसाब लगाने के बाद तय हुआ कि अगर हमने शुरू के 200 किलोमीटर तक 50 का औसत बनाए रखा, यानी अगर सुबह 4 घंटे में 200 किलोमीटर चल दिए; तो रात बारह बजे तक फैजाबाद पहुँच सकते हैं, अन्यथा नहीं।

“तो 200 किलोमीटर चलने के बाद ही अपर्णा जी को बताएँगे कि हम 20 तारीख को नहीं, बल्कि 19 तारीख को ही आ रहे हैं।”

उठने के बाद सबसे पहला काम - नहाना। ताजगी रहती है और अगले चार-पाँच घंटे तक आलस नहीं आता।

और पौने पाँच बजे चल दिए। 18 किलोमीटर दूर चलकर पेट्रोल डलवाया और बाइक का मीटर जीरो कर दिया। अब तक छह बज चुके थे। सोच लिया कि हर पचास किलोमीटर बाद रुकेंगे और दूरी व समय नोट करते चलेंगे। इससे आसानी से पता चलता रहेगा कि हम 50 के औसत से चल रहे हैं या नहीं।

अभी अंधेरा ही था और ट्रैफिक नहीं के बराबर था।

और उजाला होने के बाद जब पहली बार ‘लखनऊ - 936 किलोमीटर’ लिखा देखा तो हैरत भी हुई। लखनऊ से फैजाबाद 100 किलोमीटर से थोड़ा ही ज्यादा है, तो हमने इसे 836 किलोमीटर पढ़ा। यानी आज हमें अभी भी 836 किलोमीटर चलना है। यकीन नहीं हो रहा था खुद पर कि ऐसा निर्णय ले रखा है हमने।

इस्लामपुर शहर सुबह-सुबह ही पार हो गया। लगता था कि अभी कोई भी नहीं उठा। शहर के भीतर सड़क दो-लेन है, लेकिन पार करने के बाद जब फिर से चार-लेन मिल गई, तो बड़ी राहत मिली। अब हमें दिल्ली तक कहीं भी बिना डिवाइडर की सड़क नहीं मिलेगी।

दालकोला बॉर्डर पर बिहार में प्रवेश करने के बाद एक ढाबे पर नाश्ता करने रुक गए। चाय के साथ पूरी-सब्जी। सस्ती भी और अच्छी भी।

अगर आप नक्शा देखेंगे तो पाएँगे कि किशनगंज-दालकोला-पूर्णिया-अररिया मिलकर अंग्रेजी के ‘U’ जैसा मार्ग बनाते हैं। दूरी 100 किलोमीटर है। लेकिन एक रास्ता किशनगंज से बहादुरगंज होता हुआ भी अररिया जाता है। यह 70 किलोमीटर लंबा है। मेरी इच्छा शुरू में इसी रास्ते से जाने की थी, लेकिन कटिहार के रहने वाले एक मित्र ने सुझाव दिया कि पूर्णिया होते हुए जाना ही ठीक रहेगा, तो बहादुरगंज से जाना रद्द कर दिया। भले ही इस रास्ते 30 किलोमीटर ज्यादा चलना पड़ा हो, लेकिन यह चार-लेन का है और शानदार बना है।

इस सड़क को चार-लेन बने हुए ज्यादा समय नहीं हुआ है। इससे पहले यह दो-लेन ही थी और जाहिर है कि डिवाइडर नहीं था। तो स्थानीय लोगों की अभी भी वही दो-लेन वाली आदत पड़ी हुई है। स्थानीय गाड़ियाँ, मोटरसाइकिलें, बसें, ट्रक आदि रोंग साइड में डिवाइडर से लगकर खूब चलते हैं और ऐसे वाहन हमारे लिए मुसीबत बने हुए थे। हालाँकि रोंग साइड चलने का चलन पूरे देश में है, लेकिन बाकी जगहों पर डिवाइडर से दूर सबसे बाहर वाली लेन में चलते हैं, जबकि यहाँ

सबसे भीतर वाली लेन में। ऐसा चलन पूरे बिहार में मिला और यू.पी. में कुशीनगर तक भी ऐसा ही रहा। फिर अगले दिन शाहजहाँपुर के पास भी यही प्रवृत्ति देखी गई, क्योंकि वहाँ भी हाल ही में चार-लेन बनी है।

जब तक तीन-चार सालों में तीन-चार हजार लोग मर नहीं जाएँगे, तब तक लोगों को ठीक लेन में चलने की महिमा समझ नहीं आएगी। अगर किसी को पाँच किलोमीटर पीछे जाना हो और पचास मीटर आगे ही 'यू-टर्न' हो, तो लोग पचास मीटर आगे जाकर 'यू-टर्न' नहीं लेते, बल्कि पाँच किलोमीटर रोंग साइड में चल पड़ते हैं।

नौ बजे पूर्णिया और दस बजे अररिया। यानी 4 घंटे में हम 200 किलोमीटर दूर आ गए। इसका मतलब है कि रात बारह बजे तक फैजाबाद पहुँचा जा सकता है। अपर्णा जी को मैसेज कर दिया कि हम कल नहीं, बल्कि आज ही आ रहे हैं।

साढ़े ग्यारह बजे कोसी पुल पर पहुँच गए। वातावरण में अब तक काफी गर्मी आ गई थी। आज पहली बार कोसी नदी को देखा। अभी तो यह एकदम मासूम बच्ची-सी लग रही थी। आज इसे देखकर कल्पना भी नहीं की जा सकती कि बारिश के दिनों में इसमें कैसे महाप्रलय आती होगी। महाप्रलय की जो बातें हमारे धार्मिक ग्रंथों में लिखी गई हैं, वे अवश्य ही कोसी किनारे बैठकर लिखी गई होंगी।

और यहाँ मैं सुझाव दूँगा कि पुण्यमित्र जी का लिखा उपन्यास 'रेडियो कोसी' जरूर पढ़ें। मैंने इस उपन्यास को पढ़ा है और समझने की कच्ची-पक्की कोशिश भी की है, लेकिन जितना अब कोसी किनारे खड़े होकर समझ आ गया, उतना उपन्यास पढ़कर भी समझ नहीं आया था।

कोसी में हमेशा भयंकर बाढ़ आती है। एक दिन सरकार ने वाकई कुछ करने की सोची। यह उपन्यास का हिस्सा नहीं है, बल्कि वास्तविकता है। तो सरकार की भुजाएँ फड़क उठीं - आज तो कोसी का कुछ करना ही है। और नदी के दोनों ओर आठ-दस किलोमीटर की दूरी पर तटबंध बना दिए, ताकि नदी हमेशा इनके बीच में ही बहती रहे। इन तटबंधों के बीच में बहुत सारे गाँव थे, बल्कि सैकड़ों गाँव थे। सभी को विस्थापित कर दिया गया, लेकिन फिर भी लोगों का मोह अपनी मिट्टी से नहीं छूटा और वे तटबंधों के बीच में अपने गाँवों में ही रहते रहे। ऐसे गाँवों को दियारा भी कहते हैं।

लेकिन उसी साल नदी में ऐसी बाढ़ आई, जैसी पहले कभी नहीं आई थी। इसने तटबंधों को भी तोड़ दिया और स्वच्छंद बहने लगी। हालाँकि मानसून उतरने पर फिर से नदी को तटबंधों के बीच ही आना पड़ा।

तो ऐसे ही एक गाँव और उसके ग्रामीणों की कहानी है 'रेडियो कोसी'। आज जब कोसी का तटबंध देखा, उसकी मरम्मत करते मजदूर देखे, तो यही उपन्यास अनायास याद आ गया।

बड़ी देर तक हम यहाँ धूप में खड़े रहे और फिर धीरे से दो किलोमीटर लंबे पुल से नदी पार कर गए। सड़क पुल के बगल में रेल का नया पुल भी बनाया गया है। बहुत समय पहले यहाँ से मीटरगेज की रेलवे लाइन कोसी पार किया करती थी, लेकिन एक बार बाढ़ में वो ऐसी बही कि उसका नामोनिशान भी नहीं रहा।

फिलहाल नए सिरे से यहाँ ब्रॉडगेज लाइन बिछाई जा रही है और पुल भी बनाया गया है।

कमला नदी पार करके समिया चौक पर चाय पीने रुक गए। यहाँ से एक रास्ता मधुबनी जाता है और बहुत सारे जीप वाले, बस वाले सवारियों को आवाज लगाकर बुला रहे थे।

चाय का एक छोटा-सा खोखा था। एक बूढ़ा इसका मालिक था। पाँच रुपये की चाय और पाँच रुपये का बिस्कुट का पैकेट। बड़े भगोने में दूध रखा हुआ था। चाय में पानी की बजाय इन्होंने सीधे दूध ही चढ़ाया। अचानक निगाह गई, लक्ष्मी जी की तस्वीर के ऊपर एक अमरीकन डॉलर लगा हुआ था।

“वो डॉलर कहाँ से मिल गया आपको?”

उसने ऐसे देखा, मानों यह पूछकर मैंने गलत कर दिया हो।

“हम बंबई में यही काम करते थे। रुपये को हाथ भी नहीं लगाते थे। डॉलर ही डॉलर आता था वहाँ।”

“फिर वो सब काम छोड़कर यहाँ चाय क्यों बेच रहे हो?”

“अब उमर नहीं रही। सेठ अभी भी बहुत याद करता है और बुलाता है हमको। हम उसके वफादार आदमी थे।”

दरभंगा में एक पेट्रोल पंप के बगल में पंजाबी रेस्टोरेंट दिखा। लस्सी पीने की इच्छा होने लगी। बिहार में यह हमें एकमात्र रेस्टोरेंट दिखा, अन्यथा लाइन होटल ही हैं और चाय के खोखे। लेकिन यहाँ न कोई पंजाबी था और न ही कोई सरदार। ऐसा लगता था जैसे किसी बिहारी ने ही आठ-दस साल पंजाब में रहने के बाद यहाँ पंजाबी रेस्टोरेंट खोल लिया हो। आखिर इस सड़क को बिहार की सबसे व्यस्त सड़क भी कहा जा सकता है। और आप जानते ही हैं कि ऐसी सड़कों पर ट्रक बहुत चलते हैं और ज्यादातर ट्रक-ड्राइवर सरदार होते हैं। कोई ट्रक तो यहाँ खड़ा नहीं दिखा, लेकिन हम लस्सी के लालच में रुक गए। सारा स्टाफ एकदम उदासीन था और किसी को कोई फर्क नहीं पड़ रहा था कि ग्राहक ऑर्डर देकर प्रतीक्षा कर रहे हैं। हमारे ही देखते-देखते कई परिवार उठकर चले गए। बीस मिनट प्रतीक्षा करने के बाद हम भी जाने ही वाले थे, अगर ऐन समय पर हमारे सामने लस्सी के गिलास न रख दिए होते।

दो बजे दरभंगा और तीन बजे मुजफ्फरपुर पार हो गए। अब तक हम 450 किलोमीटर से ज्यादा आ चुके थे। दिन की गर्मी और सर्वाधिक आलस का समय अपने चरम पर था, लेकिन हमने चाय और लस्सी के अलावा कुछ भी नहीं खाया था, इसलिए आलस नहीं आ रहा था। अगर भरपेट कुछ भी खा लेते, तो हमें नींद आ जाती। अब न मुझे नींद आ रही थी और न ही दीप्ति को।

बिहार के बारे में ज्यादा कुछ लिखने को नहीं है, क्योंकि हम बिहार नहीं घूमे। हमने केवल कुछ घंटे ही बिहार में बिताए और इतने समय में एक पूरे राज्य के बारे में लिखना कुछ ज्यादा ही हो जाएगा। लेकिन बिहार का सर्वोत्तम अनुभव अभी बाकी था।

गोपालगंज बिहार का एक जिला है, लेकिन यह इतना गुमनाम है कि बिहार के

बाहर के लोग इसके बारे में नहीं जानते। टूक वाले जरूर 'गोपालगंज बॉर्डर' को जानते हैं, क्योंकि इसके बाद यू.पी. शुरू हो जाता है। तो यहाँ से धर्मेन्द्र कुशवाहा जी का मैसेज आया, फोन नंबरों का आदान-प्रदान हुआ और बात भी हुई। धर्मेन्द्र जी मेरे फेसबुक मित्र हैं। मैं कभी भी फेसबुक मित्रों से मिलने और उनके घर पर रुकने में संकोच नहीं करता हूँ, लेकिन अनजान लोगों से मिलने में कुछ बेसिक सावधानियाँ जरूरी होती हैं। मैं उन सावधानियों का पालन कर रहा था और स्वयं को इतना व्यस्त इंसान प्रदर्शित कर रहा था, जैसे अगर गोपालगंज में उनसे दो मिनट भी मिल लूँगा, तो बहुत ज्यादा हो जाएगा।

“नीरज जी, मैं ठीक उस स्थान पर मिलूँगा, जहाँ से लखनऊ 401 किलोमीटर दूर है। और इस जगह का नाम है कोइनी मोड़।” धर्मेन्द्र जी ने बताया।

“ठीक है, हम पहुँचने वाले हैं।”

मोतीहारी वाले मोड़ के बाद सूरज एकदम सामने आ गया। यह डूबने जा रहा था और शानदार लग रहा था। गंडक के पुल की हालत खराब थी और गड्डे भी थे। हम इसके बाद भी बहुत दूर चले आए, लेकिन कहीं भी किलोमीटर के पत्थर नहीं दिखे और न ही दूरियाँ लिखी दिखीं। लेकिन धर्मेन्द्र जी जहाँ भी खड़े हैं, वहाँ निश्चित ही किलोमीटर का पत्थर होगा और उस पर लिखा होगा - लखनऊ 401 किलोमीटर।

तभी हम कोइनी से गुजरे और किलोमीटर का एक पत्थर भी दिख गया। यह 'लखनऊ 405' था। यानी हमें चार किलोमीटर और आगे चलना है।

तो धर्मेन्द्र जी बड़े उत्साह से मिले और साथ बैठकर चाय-पकौड़ियाँ और गुलाबजामुन खाए।

इन्होंने कहा - “चार किलोमीटर पीछे आपको कोइनी गाँव मिला होगा। असल में हमें वहीं मिलना था, लेकिन भूल से मैं 405 की बजाय 401 बता बैठा। आप 401 किलोमीटर वाले पत्थर पर ही रुकोगे, इसलिए मुझे भी यहाँ तक आना पड़ा।”

“यह आपने बहुत सही किया। और अगर आप 401 बताकर 405 पर ही खड़े रहते और हमें वापस बुलाते, तो हम कभी भी वापस लौटने वाले नहीं थे। वैसे आपका घर कहाँ है?”

“यहाँ से दस किलोमीटर दूर गंडक के दियारे में।”

“क्या! दियारे में?”

“हाँ जी।”

“बिजली है?”

“हाँ जी, है।”

“पक्की सड़क है?”

“है।”

“आपको तो बारिश में विस्थापित होना पड़ता होगा?”

“हमारा घर कुछ ऊँचाई पर है, इसलिए विस्थापित तो नहीं होना पड़ता। लेकिन चारों ओर पानी भर जाने से नाव से ही आवागमन होता है।”

आज मुझे पहली बार पता चला कि केवल कोसी पर ही तटबंध नहीं है, बल्कि गंडक भी ऊँचे तटबंधों के अंदर बहती है।

“हम आज फैजाबाद पहुँचने का वादा कर चुके हैं, लेकिन आपके यहाँ तो आना पड़ेगा। किसी दियारे में हमारा भी मित्र रहता है, हमारे लिए इससे अच्छा नहीं हो सकता। दियारे की जिंदगी को नजदीक से देखने की इच्छा है।”

“आइए कभी भी। हमेशा स्वागत है।”

यहाँ से चले तो गोपालगंज शहर में भी एक मित्र मिले - विनय सिन्हा जी। सड़क पर खड़े होकर दो मिनट औपचारिक बातचीत हुई और एक सेल्फी भी।

फिर हो गई रात और रात में चार लेन की सड़क पर बाइक चलाना मुझे अच्छा लगता है। आठ-नौ बजे के बाद जब स्थानीय ट्रैफिक बंद हो जाता है और सड़क पर केवल ट्रक, बसें और दूर तक जाने वाली कारें होती हैं, तब ज्यादा सुरक्षा महसूस होती है।

यू.पी. रोडवेज की एक बस मुजफ्फरपुर से दिल्ली जा रही थी। आज पहली बार मैंने बिहार से दिल्ली जाने वाली कोई बस देखी। मैं अक्सर सोचता था कि दिल्ली से कश्मीर और लद्दाख तक सरकारी बसें चलती हैं, राजस्थान और गुजरात के हर शहर से दिल्ली के लिए सरकारी और प्राइवेट बसें चलती हैं, तो बिहार के लिए क्यों नहीं चलती? बिहार की ट्रेनों में इतनी मारामारी रहती है हमेशा, फिर बसें न चलना खटकता था। अभी कुछ ही देर पहले धर्मेन्द्र जी ने बताया था कि यह चार लेन की सड़क बन जाने के बाद उत्तर बिहार के तकरीबन हर शहर से प्राइवेट बसें दिल्ली के लिए निकलती हैं। अब यू.पी. रोडवेज की मुजफ्फरपुर से आने वाली बस देखकर इस बात पर भरोसा भी हो गया।

लगभग समाप्त हो चुकी बिहार की सरकारी परिवहन सेवा अगर पुनर्जीवित होना चाहती है, तो उन्हें भी दिल्ली के लिए बसें चला देनी चाहिए।

रात पौने बारह बजे जब फैजाबाद पहुँचे तो बाइक का मीटर 870 किलोमीटर दिखा रहा था। यानी आज हमने 888 किलोमीटर की दूरी तय की। यह एक दिन में बाइक से तय करने के लिए बहुत ज्यादा, बहुत ही ज्यादा दूरी है। आप कभी भी इतना चलाने की कोशिश मत करना। भविष्य में हम भी नहीं चलाएँगे इतना।

अगले पूरे दिन फैजाबाद में ही रुके रहे। सोते-सोते दोपहर हो गई और फिर उठने के बाद चलने का मन नहीं किया।

अपर्णा जी के पुत्र की शिकायत थी कि मैंने अपनी किताब ‘हमसफर एवरेस्ट’ में उसका नाम नहीं लिखा, तो इस बार उसका भी नाम लिखने का वादा कर दिया।

उसका नाम है यश और उसकी छोटी बहन का नाम है आर्ना। आर्ना की दीप्ति से बड़ी जल्दी दोस्ती हो गई और पूरे दिन दोनों साथ ही खेलती रहीं।

21 फरवरी को सुबह सवेरे ही फैजाबाद से निकल पड़े। लखनऊ में अजय सिंह राठौड़ अपने घर से 15 किलोमीटर दूर मिलने आए। बड़ा अच्छा लगता है, जब कोई किसी 'फेसबुक मित्र' से मिलने अपने पचास काम छोड़कर आता है। हम दिल्ली वालों को यह आदत अभी तक नहीं पड़ी है। और शायद पड़ेगी भी नहीं। मुझे अगर पाँच किलोमीटर दूर भी जाना होता, तो शायद मैं भी कोई न कोई बहाना मार देता।

शाहजहाँपुर में हांडी-पनीर खाते और खिलाते हुए नीरज पांडेय जी ने पूछा -
“क्या इस यात्रा पर भी किताब लिखोगे?”

“हाँ सर जी... और आखिरी पन्ने पर आपका भी नाम होगा।”

क्या कहा?... कुछ रंगीन फोटो भी होने चाहिए थे?...
आगे कुछ रंगीन फोटो हैं और फिर किताब समाप्त हो जाएगी...

लेकिन यात्रा समाप्त नहीं होगी...

मेरे पूर्वोत्तर! हम फिर आएँगे...



पूर्वोत्तर की सुबहें ऐसी ही होती हैं।



नामदफा नेशनल पार्क में

प्रत्येक चीज नयनाभिराम है।



नामदफा नेशनल पार्क के अंदर चकमा
जनजाति के लोगों के घर और खेत।



नामदफा नेशनल पार्क से बहती नो-
दिहिंग नदी।



नामदफा नेशनल पार्क में हल्दीवाड़ी नामक स्थान पर फोरेस्ट हट।



ये मूलरूप से बिहारी हैं और यहाँ नामदफा नेशनल पार्क में दूधिये का काम करते हैं।



तेज़ - परशुराम कुंड मार्ग से लोहित ऐसी
दिखती है।



परशुराम कुंड में लोहित नदी पहाड़
छोड़कर मैदान में आती है।



अरुणाचल में यह नजारा आम है।



गोल्डन पैगोडा, अरुणाचल प्रदेश



डिब्रुगढ़ के पास ब्रह्मपुत्र पर बना बोगीबील पुल, जो भारत का सबसे लंबा रेल-सह-सड़क पुल है।



माजुली के रास्ते में



काजीरंगा नेशनल पार्क



जय माँ कामाख्या



नरतियंग दुर्गा मंदिर के पुजारी जी के साथ फुरसत से बतियाते हुए।



जोवाई-डौकी मार्ग पर एक खदान, जो गुफा जैसी है।



क्रांग शुरी जलप्रपात



डौकी के बच्चों की दिनचर्या



डौकी में भारत और बांग्लादेश की सीमा... मैं भारत में खड़ा हूँ और बाकी सभी लोग बांग्लादेश में हैं।



डौकी में उमगोट नदी अपने साफ पारदर्शी पानी के लिए जानी जाती है।



चेरापूंजी में नोह-का-लिकाई जलप्रपात



लिविंग रूट ब्रिज

चेरापूंजी के पास नोंगरियात में डबल



मेघालय के लोग पवित्र मानते हैं।

तीन खड़े और एक पड़ा पत्थर... इन्हें



शिलोंग-तुरा सड़क भारत की सबसे सुंदर सड़कों में से एक है।



खासी हिल्स और गारो हिल्स की सीमा पर एक स्थानीय आदिवासी एम. सेम ने बड़े प्रेम से फोटो भी खिंचवाया और घर चलने का न्यौता भी दिया।



बक्सवा टाइगर रिजर्व के भीतर जयंती में
होमस्टे



तीन बीघा कोरीडोर और बराबर में
भारत-बांग्लादेश की सीमा की तारबंदी।



उत्तर बंगाल में लावा बहुत खूबसूरत
स्थान है... साथ ही कोई भीड़भाड़ भी नहीं।



दार्जिलिंग में बतासिया लूप पर रेलवे लाइन के किनारे इसी तरह बाजार लगता है।



दार्जिलिंग हिमालयन रेलवे में इस तरह के छह 'जेड रिवर्स' हैं।